समर्पण

भारतीय समाज के आदर्श सुधारक परम श्रद्धेय
जगद्-वन्द्य आचार्यवर ऋषि दयानन्द
का पुण्य स्मरण करके
अस्पृश्यतानिवारक आन्दोलन द्वारा भारतीय
समाज में नवीन जागृति उत्पन्न करनेवाले
आर्य संस्कृति के मूर्त्त स्वरूप

पूज्यपाद महात्मा गान्धीजी

और

अपने अत्यन्त मान्य तपस्वी, सुप्रसिद्ध विद्वान्

उपाध्याय आचार्य रामदेवजी

जो इस वृद्ध और अस्वस्थावस्था में भी मातृ-भूमि
सेवार्थ कारावास यातनाएं भोग रहे हैं और
जिन्होंने अपना सारा जीवन आर्य धर्म और
संस्कृति के उद्धारार्थ अर्पित किया हुआ है
के करकमलों में
यह पुस्तक सादर समर्पित करता हूं, आशा है वे
इस तुच्छ भेंट को अपना कर अनुगृहीत करेंगे।

विनीत समर्पक

धर्मदेव

प्रस्तावना

भारतीय समाज शास्त्र विषयक निवन्ध मैंने सन् १९२४ ई० में गुरुकुल विश्वविद्यालय काङ्गड़ी की विद्यावाचस्पति परीक्षार्थ लिखा था जिस के परीक्षक मण्डलद्वारा स्वीकृत होने पर 'विद्यावाचस्पति' की उपाधि प्राप्त हुई थी। किन्तु प्रकाशन सम्बन्धी कोई उचित प्रबन्ध न हो सकने के कारण वह इस समय तक प्रकाशित न हो सका था। अब आर्य साहित्य मण्डल अजमेर के व्यवस्थापक महोदय श्री मथुरा प्रसादजी शिवहरे की कृपा से वह पाठकों के सन्मुख आ रहा है। इसे प्रकाशनार्थ भेजते हुए अनेक आवश्यक विषयों का इसमें समावेश कर दिया गया है जिससे आशा है कि स्वाध्यायशील विचारकों के लिये यह अधिक उपयोगी सिद्ध होगा। जिस समय यह निवन्ध लिखा गया था उस समय तक हिन्दी भाषा में इस विषयक एक भी ग्रन्थ प्रकाशित न हुआ था उसके पश्चात् एकाध ग्रन्थ इस विषय में निकला है, किन्तु उसके लेखकों का दृष्टिकोण सर्वथा भिन्न होने के कारण मैंने उस से किसी प्रकार की सहायता नहीं ली। आजकल जब कि जगद्वन्द्य पूज्य महात्मा गान्धीजी के बड़ी मात्रा में अस्पृश्यता निवारणान्दोलन को चलाने पर भारतीय समाज में एक नवीन जागृति के चिन्ह दृष्टिगोचर हो रहे हैं वर्णाश्रमव्यवस्था, आर्य-संस्कृति, भारतीय समाज में स्त्रियों का स्थान इत्यादि विषयक तुलनात्मक

विचार जनता के लिये उपयोगी होगा ऐसा मेरा विश्वास है। वस्तुतः भारतीय समाज में धार्मिक, सामाजिक और राष्ट्रीय क्रान्ति की आवश्यकता है जो धर्म के नाम से प्रचलित मिथ्या विश्वासों और रूढ़ियों का उच्छेद करते हुए भी आर्य धर्म और संस्कृति के मूल तत्वों के अनुकूल हो और सची स्वतन्त्रता की ओर लेजाकर सारे लोक का कल्याण करने वाली हो। इस पुस्तक का मुख्य उद्देश्य ऐसे तत्वों का प्रतिपादन करना और उन पर सापेक्षक विचार करना है। यदि थोड़े से भी भारतीय युवकों में अपनी सभ्यता के तत्वों का ज्ञान प्राप्त करके उसके संरक्षण द्वारा समाज की सेवा का भाव इस पुस्तक से उत्पन्न हुआ तो मैं अपने परिश्रम को सफल समझूंगा।

निवेदक—
धर्मदेव विद्यावाचस्पति

भूमिका

भारतीय समाजशास्त्र को सूक्ष्म रूप में वर्णन करना हो तो उसको "वर्णाश्रम धर्म" कह सकते हैं, यह सूत्र इतना सार गर्भित है कि इसमें व्यक्ति और समष्टि दोनों का समुचित समावेश है। वर्ण व्यष्टि को बिगाड़े बिना समष्टि पर बल देता है और आश्रम समष्टि को बिगाड़े बिना व्यष्टि पर बल देता है। इस प्रकार व्यष्टि और समष्टि दोनों अपने अपने क्षेत्रों में काम करते हुये और एक दूसरे पर अत्याचार न करते हुये समाज के यथोचित रूप से पोषक होते हैं। इस तत्व का आधार वेद हैं और वैदिक काल में इसी तत्व का सहारा लेकर भारतियों ने वह उन्नति की जिसका उदाहरण अन्य जातियों में नहीं मिलता और इतनी पतित अवस्था में भी जिसके भग्नावशिष्ट भारतियों को अब तक जीवित रख रहे हैं। सभी युगों और सभी देशों में समाज के उथल पुथल में वहां के नेताओं के मस्तिष्क में उथल पुथल उत्पन्न करदी और उन्होंने समाज सुधार की विधियाँ निकालीं। परन्तु जो सूत्र भारतियों के पास था उसका भारतियों की कुछ भूलों के कारण उन तक पहुंचना कठिन हो गया और इस अभाव के कारण उन नेताओं को वह साफल्य प्राप्त न हो सका। उदाहरण के लिये प्लैटो को ले लीजिये। यूनान की तत्कालीन सामाजिक दशा को देखकर ही प्लैटो ने रिपब्लिक लिखी और समाज सुधार के साधनों का समाधान किया। परन्तु प्लैटो ने वर्णधर्म पर बल दिया और आश्रम धर्म को था

तो सर्वथा भुला दिया या उस पर समुचित बल नहीं दिया इस कारण उसके सिद्धान्त न तो उसके समय में ही व्यवहार्य समझे जाते थे और न उसके पीछे। जिन किंग-फिलासफरों (King Pholosophers) या दार्शनिक शासकों का प्लैटो ने चित्र खींचा है वह प्लैटो के मस्तिष्क में ही अस्तित्व रखते थे। उनका आस्तित्व वास्तविक संसार में न कभी हुआ, न होने की संभावना है। परन्तु भारतीय वर्णाश्रम धर्म द्वारा निर्मित जनक और याज्ञवल्क्य कल्पित व्यक्ति नहीं हैं। उनके समान व्यक्ति आज भी पाये जाते हैं। इसका का कारण ही यह है कि भारतीय समाज शास्त्र में वर्ण और आश्रम का इस विचित्र मात्रा में मिश्रण किया गया है कि समष्टि और व्यष्टि में झगड़ा होने ही नहीं पाता। घी या शकर अकेले कुछ स्वाद नहीं देते और न आटा ही सूखा फांका जा सकता है परन्तु नियत मात्रा में नियत विधि से मिश्रण करना ही हलवे को स्वादिष्ट बना देता है। इसी प्रकार वर्ण और आश्रम का हाल समझ लीजिये।

आजकल पश्चिम में समाज सुधार के जो यत्न किये जा रहे हैं वह भी प्लैटो के सुधारों से अधिक स्थायी सिद्धान्त होंगे, जो लोग समाजशास्त्र को केवल विकासवाद के आधार पर ले जाना चाहते हैं उनको आगे चल कर पछताना पड़ेगा। विकासवाद वैज्ञानिक लोगों का वाद अवश्य है परन्तु वह कोरा वैज्ञानिक वाद नहीं है। अर्थात् वैज्ञानिकों के लिये यह कुछ फैशन सा हो गया है कि वह अपने को विकासवाद का पोषक कहें और उसी वाद के आधार पर सभी माननीय संस्थाओं को निर्माण करें। यह नहीं समझना चाहिये कि विकासवाद में कल्पना शक्ति को काम में

नहीं लाया गया। कहीं कहीं तो विकासवादियों की कल्पनायें मत-मतान्तरों की कल्पनाओं को मात कर देती हैं। इसलिये जो आधुनिक भारतीय या अन्य देशीय सज्जन केवल इसी विकासवाद के आधार पर समाज-शास्त्र के भवन का निर्माण करना चाहते हैं वे उन घोर आपत्तियों से न बच सकेंगे जो आज कल पाश्चात्य देशों को सता रही हैं। और संभव है कि भारतीय लोगों को फिर लौटकर अपनी ही संस्कृति की ओर आना पड़े।

इसलिये सुगमतर मार्ग तो यह होगा कि हम अभी से आंखें खोलें और अपने ऋषि-मुनियों से ही अपने दुख की औषध पूछने का यत्न करें संभव है कि हमको अपने छिपे हुए कोष में कोई ऐसा रत्न प्राप्त हो जाय जिससे हम अपनी सामाजिक नौका को डूबने से बचा सकें।

इस समय हमारा 'वर्णाश्रम धर्म' एक ढकोसला मात्र है। हम इसके कारण लोगों के उपहास का पात्र हो रहे हैं। परन्तु यह अन्वेषण करने की आवश्यकता है कि वास्तविक वर्णाश्रम धर्म क्या था और वह प्राचीन आर्य जाति को किस प्रकार उन्नत करता रहा।

श्री पं० धर्मदेवजी विद्या वाचस्पति ने अपने समाज-शास्त्र में इसी समस्या को हल करने का यत्न किया है। मुझे यह पढ़कर बड़ा हर्ष हुआ कि ऐसे जटिल विषय को इस योग्यता के साथ वर्णन किया गया है। अपने योग्य विद्वान् मित्र के लिये मैं प्रशंसा के सिवाय और कुछ नहीं कह सकता। उन्होंने समाज-शास्त्र के प्रेमियों के विचार के लिये एक अच्छी सामग्री इकट्ठी करदी है और उनकी पुस्तक के अनेकों संकेत कई समस्याओं के हल

करने में सहायक हो सकते हैं। आजकल हमारा समाज रोगी है और प्रत्येक विचारक इस रोग को दूर करने के लिये उत्सुक है। परन्तु रोग की पीड़ा में प्रत्येक वस्तु को औषध समझकर खा बैठने से रोग दूर नहीं होता है। कठिन रोग के समय और अधिक धैर्य और विचार की आवश्यकता होती है।

आशा है कि यह समाज-शास्त्र एक अच्छी विचार-संतति का सूत्रपात करेगा और इससे हमारा कल्याण होगा।

दयानिवास
प्रयाग
२१-२-३३

गंगाप्रसाद उपाध्याय एम० ए०

विषय-सूची

कमी विवेकरहित अर्थप्रदान, समाजहित के भावों की न्यूनता और रीति रिवाजों की गुलामी इन पर संक्षिप्त विचार।

षष्ठ अध्याय (पृ० १२४-१५३)

भारतीय और यूरोपीय सभ्यता

समाज शास्त्र के साथ सभ्यता का सम्बन्ध। भारतीय सभ्यता के मुख्य तत्वों का सप्रमाण निर्देश। ऐहिक और पारलौकिक उन्नति के लिये इस सभ्यता में स्थान। सत्याग्रह तत्व। यूरोपीय सभ्यता का भारतीय सभ्यता से भेद। प्रो० हैक्सले, मि० रस्किन्, मि० फ्रेडरिक हैरीसन्, मि० हैवल, मेरी कौरेली, रैवरेन्ड डैविड् वैट्सन्, रेवरेन्ड स्टोक्स, बेंजमिन् किड,डा०क्रोज़ियर इत्यादि विद्वानों के वर्तमान सभ्यता विषयक विचार। डा० जेम्स कज़िन्स और डा० विल् ड्युरेन्ट के भारतीय सभ्यता की उच्चता विषयक निष्पक्षपात विचार।

सप्तम अध्याय (१५४-२१०)

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति

(१) शास्त्रीय दृष्टि। संस्कृत साहित्य पर एक दृष्टि। वेदों में स्त्रियों की अत्युन्नत स्थिति सूचक मन्त्र, मनुस्मृति के इस विषयक विचारों पर समालोचनात्मक विचार, शुक्र नीति महाभारत प्रश्नोत्तरी, पंचतन्त्रादि के स्त्रीविषयक भाव।

(२) ऐतिहासिक दृष्टि। वैदिक, रामायण, उपनिषत्, महाभारत, तथा राजपूत काल में स्त्रियों की स्थिति।

(३) यूरोप तथा पाश्चात्य देशों में स्त्रियों की स्थिति।

(४) भारतीय समाज में स्त्रियों की वर्तमान स्थिति में आवश्यक सुधार। महारानी बड़ोदा आदि के इस विषयक विचार।

अष्टम अध्याय (पृ० २११-२५१)

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के सामाजिक विकासवादादि सिद्धान्तों की आलोचना

मि० टेलर इत्यादि के ग्रन्थों मे सामाजिक विकासवाद का दिग्दर्शन। प्रो० मैक्समूलर, डा० रसेल वैलेस आदि विद्वानों के इस विषयक विचार। मि० टेलर की स्थापनाओं की समीक्षा। वेदों की दृष्टि से सामाजिक विकास वाद की असत्यता। वैदिक ईश्वर कल्पना, समाजरचना, शासन पद्धति, विवाह प्रणाली इत्यादि का संक्षिप्त निर्देश। वैद्यक ज्योतिष, गणित, विज्ञान, दर्शनशास्त्र इत्यादि में प्राचीन आर्यों की उन्नति के विषय में पाश्चात्य विद्वानों की साक्षि। देश भक्ति और राष्ट्रीयता के भाव। श्रीयुत अरविन्द घोष और डा० रवीन्द्र नाथ टागोर इत्यादि विद्वानों के विचार। उपसंहार।

॥ ओ३म् ॥

भारतीय समाज-शास्त्र

प्रथम अध्याय

समाज शास्त्र के भिन्न २ लक्षण

व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध

यूरोप तथा अमेरिका के हर्बर्टस्पेन्सर गिडिङ्स बेंजमिन किट आल्स्व रोसो इत्यादि विद्वानों ने समाजशास्त्र (Socialogy) के विषय पर विकासवाद की दृष्टि से कई ग्रन्थ लिखे हैं किन्तु जहांतक मुझे मालूम है इस समय तक भारतीय दृष्टि से समाजशास्त्र पर कोई उत्तम ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ। इस निबन्ध का उद्देश्य उपर्युक्त बड़ी भारी कमी को दूर करना और शास्त्रोक्त वर्णाश्रम व्यवस्था पर जो भारतीय समाज-शास्त्र की आधार शिला कही जा सकती है, विस्तार से तुलनात्मक विचार करना है। यह विषय बहुत ही विस्तृत है इसके कई पहलुओं पर थोड़ा बहुत विचार भी भारतीय विद्वानों द्वारा किया गया है तो भी विषय के सब अङ्गों पर संक्षिप्त रीति से विचार करते हुए शास्त्रीय वर्णव्यवस्था के गौरव को सर्वसाधारण के सामने लाना अत्यन्त आवश्यक मालूम होता है। इस निबन्ध को आरम्भ करने से पहले Socialogy वा समाजशास्त्र के भिन्न २ प्रसिद्ध लेखकों द्वारा किये हुए मुख्य २ लक्षणों का उल्लेख कर देना अनुचित न होगा।

(१) प्रो. स्मॉल और विन्सेन्ट समाजशास्त्र का लक्षण यों करते हैं।

"Socialogy is a science treating of social evils and their remedies."

अर्थात् समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक दोष और उनके दूर करने के उपायों पर विचार करता है।

(२) प्रो. थॉम्पसन का किया हुआ लक्षण निम्न लिखित है।

"Socialogy is the science of the origin development, structure and function of the forms of association."

अर्थात् समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो संघ या समाज की उत्पत्ति, विकास, बनावट और कार्य पर विचार करता है।

(३) कोलम्बिया यूनिवर्सिटी न्यूयार्क में समाजशास्त्र के प्रोफ़ेसर गिडिङ्स एम० ए० ने अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ Principles of Socialogy में समाजशास्त्र का लक्षण यों किया है।

Socialogy is an attempt to account for the origin growth structure and activities of society by the operation of physical vital and psychical causes working together in a process of evolution."

अर्थात् समाज़शास्त्र, मनुष्य-समाज की उत्पत्ति वृद्धि रचना और कार्य की, प्राकृतिक और मनोवैज्ञानिक कारणों के द्वारा जो विकास की तरफ़ साथ २ काम करते हैं, व्याख्या करने का एक यत्न है।

(४) बेंजमिनकिड नामक विद्वान् ने समाजशास्त्र के विषय में कहा है।

"Principles which underline human society considered in a condition of development."

अर्थात् समाजशास्त्र से तात्पर्य उन सिद्धान्तों का है जो विकास की तरफ़ जाते हुए मनुष्यसमाज की तह में काम करते हैं।

(५) मङ्गलवेदकर नामक भारतीय समाजशास्त्रज्ञ ने अपनी छोटी सी What is socialogy नामक पुस्तक में प्रो० थॉम्पसन के लक्षण को ही स्वीकार करते हुए समाजशास्त्र के आलोचनीय विषयों में संघ की उत्पत्ति, विकास बनावट और कार्य के साथ २ उद्देश्य की वृद्धि कर दी है।

अन्य विद्वानों के किये हुए लक्षणों का भी प्रायः इन्हीं के अन्दर समावेश हो सकता है। कुछ समाजशास्त्रियों ने समाजशास्त्र के चार विषयों का वर्णन करते हुए चार ही प्रकार बताये हैं। यथा—

(१) वर्णनात्मक समाजशास्त्र (Descriptive socialogy) जो इस बात का वर्णन करता है कि मनुष्य समाज कैसे बना है कौन २ सी मुख्य जातियों का यह समुदाय है उनकी शारीरिक रचना में भेद इत्यादि।

(२) ऐतिहासिक समाज शास्त्र (Historical socialogy) जो मनुष्यसमाज किन २ अवस्थाओं में से गुज़र चुका है, इत्यादि बातों की ऐतिहासिक दृष्टि से विवेचना करता है।

(३) सिद्धान्तात्मक समाजशास्त्र (Theoretical socialogy) जो मनुष्यसमाज की उत्पत्ति कैसे होती है उसके विकास और धारण के क्या नियम हैं, इत्यादि विषयों पर विचार करता है।

(४) क्रियात्मक समाजशास्त्र (Practical socialogy) जो विशेष रूप से समय की आवश्यकताओं और वर्तमान समस्याओं पर क्रियात्मक दृष्टि से विवेचना करता और केवल कल्पनाओं को गौणता देता है। रॉस महोदय की (Foundations of socialogy) नामक पुस्तक में समाजशास्त्र के यही ४ प्रकार बताये गये हैं। समाजशास्त्र विषयक प्रश्नों का वहां क्या है। क्या हो चुका है, क्या हुआ करता है और अब क्या हो सक्ता है इस प्रकार वर्गीकरण किया है।

समाज शास्त्र के इस वर्गीकरण तथा इन लक्षणों पर यहां अधिक वाद विवाद करने की आवश्यकता नहीं। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि समाज की उत्पत्ति वृद्धि तथा रचनादि विषयक मुख्य २ नियमों और सिद्धान्तों का प्रतिपादन करना समाजशास्त्र का विषय है। इतिहास राजनीतिशास्त्र कर्तव्यशास्त्र इत्यादि की सहायता इसके लिये आवश्यक है। किन्तु समाजशास्त्र पर विचार करते हुए सबसे मुख्य जो प्रश्न हमारे सामने आता है वह यह है कि व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध क्या है! इस पर मतभेद होने के कारण व्यष्टिवाद (Individualism) तथा समष्टि वा साम्यवाद जिसको (Socialism, Communism) इत्यादि अनेक नामों से कहा जाता है इत्यादि वहुतसे वाद प्रचलित हो गये हैं। व्यष्टिवादियों का जो मत है वह इङ्गलेण्ड के प्रसिद्ध समाजशास्त्रज्ञ हर्बर्ट स्पेन्सर के निम्न लिखित वाक्यों से मालूम हो सकता है।

"The society exists for the benefit of its members, not its members for the benefit of the society. It has ever to be remembered that great as may be the efforts made for the pros-

perity of the bodypolitic, yet the claims of the bodypolitic are nothing in themselves and become something only in so far as they embody the claims of its component individuals."

Principles of Socialogy by Spencer
Vol. I Part II chapter II

तात्पर्य यह है कि समाज, अपने अङ्गरूप सभासदों के लाभ के लिये है, इसके सदस्य समाज के लाभ के लिये नहीं। इस बात को सदा याद रखना चाहिये कि समाज रूपी शरीर के विकास के लिये कितने भी बड़े यत्न क्यों न किये जायं वह समाज शरीर का दावा अपने आप कुछ भी महत्त्व का नहीं जबतक कि वह व्यक्तियों के अधिकारों अथवा दावों का प्रकाशक न हो। इस रीति से स्पेन्सर ने व्यष्टिवाद को प्रधानता देते हुए 'Man versus state' इत्यादि ग्रन्थों में किसी भी प्रकार के समष्टि या साम्यवाद को दासता का कारण बताया है। देखो The coming slavery नामक लेख जिसमें " All socialism involves slavery" इत्यादि वाक्यों का बार २ प्रयोग किया गया है।

प्रो. फ्रैंकलिन हेनरीगिडिङ्स नामक अमेरिकन समाज शास्त्रज्ञ ने भी अपना झुकाव इसी व्यष्टिवाद की ओर दिखाया है। अपनी Principles of Socialogy के पृ० १९५ पर उसने बताया है "The end of human society is the development of the rational and spiritual personality of its members." अर्थात् मनुष्यसमाज का उद्देश्य व्यक्तियों के बुद्धि सम्बन्धी तथा आध्यात्मिक व्यक्तित्व का विकास करना है। इसके आगे उसने ठीक

कहा है कि शिक्षा, धर्म, विज्ञान तथा शिल्प सम्बन्धी संस्थाएं और साथ ही सभ्यसमाज सीधे तौर पर व्यक्ति पर अच्छा या बुरा प्रभाव डालते हैं। इन शब्दों के अन्दर जो व्यष्टिवाद प्रकट किया गया है वह सीमित तथा माननीय है। निःसन्देह समाज वा संघ इस लिये नहीं कि वह अपने अवयव रूप सदस्यों के व्यक्तित्व (Individuality) का नाश कर दे बल्कि इसलिये कि उसके द्वारा योग्य व्यक्तित्व के विकास में पूरी सहायता मिल सके। साम्यवाद का आगे जाकर विस्तृत वर्णन किया जायगा यहां इतना ही कथन पर्याप्त है कि साम्यवाद व्यक्तित्व को एक तरह से बिल्कुल मिटाना चाहता है। इसका कहना है कि व्यक्ति केवल समाज के हित के लिये है, उसकी जो सम्पत्ति है वह सब समाज की है। अतः समाज के हित के लिये व्यक्ति को पृथक् सत्ता बिल्कुल खो देनी चाहिये। सब भूमि सम्पत्ति कारखाने इत्यादि समाज वा राष्ट्र के अधिकार में होने चाहियें। वास्तव में गम्भीरता से विचार किया जाय तो ये दोनों वाद पराकाष्ठा वा extreme को लिये हुए हैं। व्यक्ति समाज का दास नहीं, पर समाज के बिना व्यक्ति अपनी पूर्ण उन्नति करने में सर्वथा असमर्थ है। यदि व्यक्ति पृथक् २ अपने शरीर मन बुद्धि इत्यादि की शक्तियों को बढ़ाने का पूरा यत्न न करें तो उनसे बना हुआ समाज भी वैसे ही शिथिल और ढीलाढाला रहेगा। व्यक्तियों के बिना समाज की सत्ता ही कायम नहीं रह सकती इसलिये कोई कारण नहीं कि व्यष्टिवाद और समष्टिवाद को क्यों परस्पर विरोधी समझा जाय। व्यक्ति और समाज जब एक दूसरे के सहायक होते हैं तभी सब प्रकार की शान्ति रह सकती है। इसलिये प्रसिद्ध भारतीय विचारक श्रीयुत अरविन्द घोष ने "The ideal of human unity" नामक पुस्तक के द्वितीय अध्याय में ठीक कहा है कि—

"The perfect society will be that which most

entirely favours the perfection of the individual, the perfection of the individual will be in complete if it does not help towards the perfect state of the social aggregate to which he belongs and eventually to the whole of a united humanity"

P. 9

अर्थात् पूर्ण संघ वही होगा जो व्यक्ति को पूर्ण बनाने में सब तरह से सहायता देता है। एक व्यक्ति तबतक कभी पूर्ण नहीं बन सकता जबतक वह पहले अपने समाज और अन्ततः सम्पूर्ण मनुष्यसमाज को पूर्णता की ओर ले जाने में सहायक नहीं होता।

भारतीय दृष्टि से जब हम इस व्यष्टि और समष्टिवाद पर विचार करना प्रारम्भ करते हैं तब हमारी दृष्टि एक दम यजुर्वेद के इन अत्यन्त महत्त्व पूर्ण मन्त्रों पर जाती है।

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽसम्भूतिमुपासते ।
ततो भूय इव ते तमो य उ संभूत्याᳯरताः ॥
अन्यदेवाहुः संभवादन्यदाहुरसम्भवात् ।
इति शुश्रुम धीराणां ये नस्तद् विचचक्षिरे ॥
संभूतिं च विनाशं च यस्तद् वेदोभयᳯ सह ।
विनाशेन मृत्युं तीर्त्वा संभूत्यामृतमश्नुते ॥

अ० ४० म० ९–११ ॥

जिन में वस्तुतः समाजशास्त्र का सब तत्त्व संक्षेप से बता दिया गया है। इन मन्त्रों का मुख्य तात्पर्य यह है कि जो पुरुष केवल असम्भूति अर्थात् वैयक्तिक उन्नति के अन्दर ही लीन हो जाते हैं-

वे अन्धकार में प्रवेश करते हैं और जो (अपनी उन्नति न करके) सामाजिक उन्नति की चिन्ता में दिन रात तत्पर रहते हैं वे उन से भी अधिक घने अन्धेरे में जाते हैं। तत्त्वज्ञानी महात्मा वैयक्तिक उन्नति का फल सामाजिक उन्नति के फल से भिन्न है और दोनों का ही अद्भुत फल है ऐसा बतलाते हैं। जो पुरुष सम्भूति और विनाश अर्थात् सामाजिक और वैयक्तिक उन्नति को अथवा समष्टि और व्यष्टिवाद को साथ २ मिलाता है वह वैयक्तिक उन्नति के द्वारा मृत्युभय या अकाल मृत्यु को दूर करके संघ भाव से अमरत्व प्राप्त करता है। सारांश यह है कि इन दोनों भावों को साथ मिलाकर कार्य करने से ही व्यक्ति का अपना और साथ ही समाज का वास्तविक कल्याण हो सकता है अन्यथा नहीं। इसी आशय को वेदों में स्थान २ पर प्रकट किया गया है। अथर्व कां० ११ सू० ५ में ब्रह्मचारी के कर्त्तव्य बताते हुए 'सद्याधार पृथिवीं दिवं च स सद्य एति पूर्वस्मादुत्तरं समुद्रं लोकान्संगृभ्य मुहुराचरिक्रत्' इत्यादि जो मन्त्र आये हुए हैं उनमें लोकोपकार के लिए पूर्ण चेष्टा करना ब्रह्मचारियों का मुख्य कर्त्तव्य बताया गया है। ऋ० ९।९२।२ में 'भुवद् विश्वेषु काव्येषु रन्तानु जनान् यतते पञ्च धीरः'। इस मन्त्र द्वारा ज्ञानी पुरुष सम्पूर्ण उत्तम ग्रन्थों का अनुशीलन करके पञ्चजन अर्थात् ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र निषाद (जंगली लोग) सब के हित के लिये यत्न करता है ऐसा स्पष्ट उपदेश किया गया है। मुण्डक उपनिषद् के अन्दर भी 'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावानेष ब्रह्मविदां वरिष्ठः"। क्रियावन्तः श्रोत्रिया ब्रह्मनिष्ठाः" इत्यादि वाक्यों में ब्रह्मज्ञानियों के लिए शुभ कर्मों में तत्पर होना आवश्यक बताया गया है। सारे वैदिक साहित्य में जिस यज्ञ के अनुष्ठान की इतनी महिमा गाई गई है और जिस के न करने वालों को वेद में दस्यु का नाम दिया गया है उस यज्ञ का अर्थ परोपकारार्थ निष्कामभाव से शुभ कार्य करना है केवल अग्नि में आहुति

डालना नहीं इस बात को लोकमान्य बाल गङ्गाधर तिलक जैसे विद्वानों ने स्पष्ट सिद्ध कर दिखाया है। भगवद् गीता के अन्दर व्यक्ति को समाज-हित के लिए अपनी शक्तियों को अर्पण कर देना चाहिये इस तत्त्व का बड़ी उत्तमता से प्रतिपादन किया गया है। ज्ञानियों की सब इच्छाएं शान्त हो जाती हैं, उन्हें अपने लिये काम करने की विशेष आवश्यकता नहीं रहती तो भी लोकसंग्रह के लिये उन्हें काम करते ही रहना चाहिये ऐसा भ० गी० अ० ३। २५ में श्रीकृष्ण ने जो उपदेश दिया है वह इस प्रसङ्ग में विशेष मनन करने योग्य है। लोक-संग्रह का अर्थ श्री शङ्कराचार्य तथा लोकमान्य तिलक के अनुसार संसार को बुरे मार्ग से हटाकर अच्छे मार्ग की तरफ़ चलाना अथवा जनता को एकता के सूत्र में बांधने का है। श्लोक इस प्रकार है।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोक संग्रहम्॥

इस तरह के श्लोकों पर ज़रा गम्भीर विचार करने पर भारतीय शास्त्रकारों की दृष्टि में व्यक्ति और समाज का अटूट सम्बन्ध है यह बात ध्यान में आ सकती है।

इस बात से इन्कार नहीं हो सकता कि किसी २ समय वैयक्तिक धर्म और सामाजिक धर्म के अन्दर विरोध प्रतीत होने लगता है। एक व्यक्ति यह अनुभव करता है कि उसके अन्दर अभी हज़ारों निर्बलताएं हैं, लोकहित के लिये जितना आत्मिक और मानसिक बल चाहिये उतना उसके अन्दर नहीं, ऐसा सोचते हुए कार्यक्षेत्र से कुछ समय के लिए उपरत होना चाहता है पर दूसरी तरफ़ उसका सामाजिक कर्त्तव्य उसको ऐसा करने से रोकता है ऐसे समय में क्या करना चाहिये। मनुष्य यदि यह आशा करे कि वह अपने को सर्वथा पूर्ण बनाकर तब जनता की सेवा

करना शुरू करेगा तो यह असम्भव सा ही है तो भी जबतक कुछ समय तप के द्वारा एकान्त वास करके व्यक्ति अपनी आन्तरिक शक्तियों को बढ़ाने और पूर्णता की ओर भरसक कदम बढ़ाने का यत्न न करे तबतक वह जनता की सेवा भी ठीक तौर पर नहीं कर सकता। जो स्वयं अन्धा है वह दूसरों का मार्गदर्शक कैसे हो सकता है, जो स्वयं प्यासा है वह दूसरों की प्यास कैसे बुझा सकता है इसलिये जहां वैयक्तिक और सामाजिक धर्मों में ऐसा विरोध सा अनुभव होने लगे वहां मेरा विचार है कि मनुष्य को कुछ समय के लिये कार्यक्षेत्र से अलग हो जाना चाहिये और विशेष रूप से वैयक्तिक उन्नति के साधन में तत्पर हो जाना चाहिए। आत्मा की उन्नति यह एक मुख्य बात है जिसकी उपेक्षा करना सर्वथा अनुचित है इसीलिये संस्कृत ग्रन्थों में कहा है 'आत्मार्थे पृथिवीं त्यजेत्' अर्थात् यदि आत्मा की उन्नति के लिए पृथिवी को छोड़ देना भी आवश्यक जान पड़े तो वैसा करने में संकोच न करना चाहिये। ऊपर जो 'कुछ समय के लिये' इन शब्दों का प्रयोग किया गया है वह निष्प्रयोजन नहीं। मेरा अभिप्राय यह है कि वैयक्तिक उन्नति करने के लिये एकान्त वास तपस्यादि जो कोई भी साधन करना पड़े उसे करके अपनी शक्तियों का उपयोग अन्ततः जनता की सेवा में कर देना चाहिये। केवल आत्मिक उन्नति से सन्तुष्ट हो जाना और उतने से अपने को कृतकृत्य मान लेना यह भी ज़रा ऊंचे दर्जे का स्वार्थ ही है। इसके अतिरिक्त समाज के अन्दर रहकर कार्य करते हुए मनुष्य अपनी शक्ति को बढ़ाने का अवसर पाता है। जंगल के अन्दर समाधि लगाकर और ऐसे स्थान में रहकर जहां किसी प्रकार की उत्तरदायिता उसके ऊपर नहीं यदि कोई आदमी इस बात का दावा करे कि उसकी चित्त वृत्ति कभी विक्षिप्त नहीं होती अथवा उस का मन सदा शान्त रहता है तो उसका यह दावा कोरा भ्रममात्र होगा। प्रत्येक अवस्था में चित्त वृत्ति को शान्त और सम रखने का अभ्यास

व्यक्ति, समाज के अन्दर रहते हुए ही कर सकता है। इतनी विवेचना से यह बात स्पष्ट सिद्ध होती है कि व्यष्टि और समष्टि भाव परस्पर विरोधी नहीं किन्तु सहायक हैं। उन दोनों को मिलाकर कार्य करने से ही व्यक्ति और जनता का हित हो सकता है। अपनी शक्तियों का विकास करके जनता वा समाज के हित में तत्पर होना प्रत्येक व्यक्ति का धर्म है और उत्तम अनुकूल परिस्थिति पैदा करके प्रत्येक व्यक्ति को पूर्ण करने में सहायता देना समाज का उद्देश्य है। समाज की उत्पत्ति कैसे हुई और उसकी रचना किस प्रकार होनी चाहिये इत्यादि बातों का दूसरे अध्याय में विचार किया जायगा।

द्वितीय अध्याय

भारतीय समाज-शास्त्र की आधार शिला वर्णाश्रम व्यवस्था

(धार्मिक और सामाजिक दृष्टि)

प्रथम अध्याय में व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध के विषय में कुछ विवेचना की गई है। इस अध्याय में समाज की उत्पत्ति रचना इत्यादि के सम्बन्ध में भारतीय दृष्टि से विचार करना है। यह उक्ति प्रसिद्ध ही है कि मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। परमेश्वर की तरफ़ से मनुष्य के हृदय के अन्दर दूसरों के साथ मिलकर अपनी उन्नति साधन करने की एक नैसर्गिक प्रवृत्ति दी गई है। बृहदारण्यक उपनिषद् में पुरुष का वर्णन करते हुए 'स वै नैव रेमे तस्मादेकाकी न रमते' (चतुर्थ ब्राह्मण) ये जो शब्द आये हैं वे इसी स्वाभाविक प्रवृत्ति का बोध कराने वाले हैं। मनुष्य कितना भी यत्न क्यों न करे वह दूसरों का आश्रय लिये बिना अपना साधारण निर्वाह मात्र तक नहीं कर सकता। यदि एक व्यक्ति को स्वयं ही पानी भरना पड़े स्वयं रोटी बनानी पड़े स्वयं कपड़े बुनने पड़ें और रात को स्वयं ही पहरा देना पड़े तो उसको एक दिन जीना भी भारी पड़ जाय, इसलिये श्रम विभाग का सिद्धान्त मनुष्य समुदाय में भी लागू होता है। कोई ऐसा समाज न होगा जिस में पढ़ाने इत्यादि का काम करने वाले ज्ञानी लोगों, रक्षा की विशेष रूप से व्यवस्था करने वाले क्षत्रियों, व्यापारियों और श्रमियों या सेवकों के बिना काम चल सकता हो। भारत में, यूरोप में, अमेरिका में और अन्य किसी प्रदेश में, समाज के अन्दर इन चार प्रकार के व्यक्तियों की सत्ता दिखाई देती है यद्यपि

अब यह विभाग बिल्कुल अव्यवस्थित और-ढीला-ढाला सा है। हमारे पूर्वजों ने इस स्वाभाविक गुण कर्म कृत विभाग से लाभ उठाते हुए समाज की आश्चर्यजनक रचना की थी और एक नया सभ्यता का आदर्श अन्य देश-वासियों के सन्मुख रक्खा था। वेद के 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद् बाहू राजन्यः कृतः। ऊरू तदस्य यद् वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस सुप्रसिद्ध-मन्त्र के अन्दर मनुष्यसमाज की एक व्यक्ति के शरीर के साथ तुलना करते हुए समाज के आदर्श संगठन का जो निर्देश किया गया है वह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। आगे चलकर हम दिखायेंगे कि हर्बर्टस्पेन्सर जैसे धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों ने भी "Society is an organism" इत्यादि लेखों में आर्यों की समाज विषयक इस कल्पना का समर्थन किया है। वर्ण-व्यवस्था के विषय में मूल वेद संहिताओं के अन्दर बहुत लम्बा चौड़ा उल्लेख नहीं पर थोड़े से शब्दों के अन्दर सारा तत्त्व भर दिया गया है। वेद कहता है कि यदि सच्चे ब्राह्मण का तुम आदर्श जानना चाहते हो तो अपने मुख भाग की ओर देखो। इस मुख भाग के अन्दर आंख, नाक, कान, जिह्वा और त्वचा पांचों ज्ञानेन्द्रियां हैं और कर्मेन्द्रियों में से एक वाणी है जो इस भाग में पाई जाती है। सारे अवयवों में यदि सब से अधिक स्वार्थ-रहित और तपस्वी कोई अवयव है तो यह मुख ही है। सर्दियों में जब कि सारे अवयवों को खूब अच्छी तरह से ढांक लिया जाता है तब यह मुख का भाग नंगा ही रहता है इसके अन्दर कितने भी स्वादु पदार्थ क्यों न डाले जायं यह अपने लिये कुछ न रखकर सारे शरीर में रुधिरादि द्वारा पहुंचा देता है। इसी प्रकार समाज में जो पुरुष सम्पूर्ण ज्ञान का संग्रह करके वाणी द्वारा उस का प्रचार करते हैं, जो तपस्वी और स्वार्थ रहित हैं वही सच्चे ब्राह्मण हो सकते हैं। जिनके अन्दर ये गुण नहीं पाये जाते वे कितने भी ऊंचे कुल में क्यों न पैदा हुए हों ब्राह्मण कहलाने के अधिकारी नहीं। मनुस्मृति इत्यादि में ब्राह्मणों की पूजा करने का जो इतना

महत्व बताया गया है वह इसीलिए कि ऐसे स्वार्थरहित तपस्वी सदाचारी ज्ञानी पुरुष जबतक समाज के नेता नहीं तबतक समाज की यथार्थ उन्नति असम्भव है। यजुर्वेद में 'ब्रह्मणे ब्राह्मणम्' कहकर इस बात को स्पष्ट कर दिया गया है ब्रह्म अर्थात् ज्ञान के प्रचार के लिए मुख्य तौर पर ब्राह्मण को नियुक्त किया गया है। जो स्वयं ब्रह्मज्ञानी नहीं और सच्चे ज्ञान के प्रचार करने का जो यत्न नहीं करता वह पुरुष ब्राह्मणोचित मान के कभी योग्य नहीं हो सकता। अथर्ववेद कां ५ सू० १९ म० ६ में यहां तक कह दिया है कि—

'उग्रो राजा मन्यमानो ब्राह्मणं यो जिघत्सति।
परातत्सिच्यते राष्ट्रं ब्राह्मणो यत्र जीयते॥'

अर्थात् जो अत्याचारी राजा अपनी शक्ति का घमण्ड करता हुआ ब्राह्मणों को सताता है उस के राष्ट्र का शीघ्र ही नाश हो जाता है। म० ९ में भी 'ब्रह्माणं यत्र हिंसन्ति तद् राष्ट्रं हन्ति दुच्छुना' यह कर बताया है कि दुर्गति उस राष्ट्र का सत्यानाश कर देती है जहां ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण की हिंसा की जाती है। इस प्रकार के सब वेद मन्त्रों में किसी ब्राह्मण जाति का कोई निर्देश नहीं बल्कि 'ब्रह्मजानातीति ब्राह्मणः' इस व्युत्पत्ति के के अनुसार सच्चे ब्रह्मज्ञानी का तिरस्कार करने से समाज की जो बुरी दशा होती है उसकी सूचना दी गई है। ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मन्त्र का पौराणिक लोग जो ब्रह्मा के मुख से ब्राह्मण उत्पन्न हुआ इत्यादि अर्थ करते हैं वह कैसा असङ्गत और पूर्वापर विरुद्ध है यहां विस्तार से दिखाने की आवश्यकता नहीं। इससे ठीक पूर्व के मन्त्र में 'यत्पुरुषं व्यदधुः कतिधा व्यकल्पयन्। मुखं किमस्यासीत् किं बाहू किमूरू पादा उच्येते'। यह जो प्रश्न पूछा गया है कि समाज की पुरुष के रूप में जो कल्पना की गई है वह कितने प्रकार से है। उसका मुख क्या है बाहु क्या हैं और ऊरु तथा पैर क्या हैं? उस प्रश्न का उत्तर

'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्' इस मन्त्र द्वारा दिया गया है। मुख क्या है? इस प्रश्न का ब्राह्मण मुख से उत्पन्न हुआ यह उत्तर कितना असङ्गत है 'पद्भ्यां शूद्रो अजायत' इस चतुर्थ चरण के विषय में कुछ सन्देह हो सकता है उसकी निवृत्ति के लिए पद्भ्यां यहां चतुर्थी विभक्ति माननी उचित है उस अवस्था में यह अर्थ होगा कि पैरों के काम के लिये शूद्र बनाया गया। पैर चैतन्य हीन होते हुए जैसे सेवा का काम करते हैं वैसे ही जो पुरुषसमाज में उच्च ज्ञानरहित होते हुए केवल सेवा के काम को भलीभाँति कर सकते हैं, वे शूद्र कहलाते हैं यह मन्त्र का आशय है, इस विषयक अधिक वाद विवाद को न उठाते हुए अब हम वेदानुकूल स्मृत्यादि के आधार पर चारों वर्णों के कर्त्तव्यों और अधिकारों पर थोड़ा विचार करेंगे।

ब्राह्मणों के गुण कर्त्तव्य और अधिकार

समाज की आधी से अधिक बुराइयाँ स्वयं दूर हो जायं यदि लोग अधिकारों के पीछे न मर कर कर्त्तव्य पर विशेष दृष्टि रक्खें। जब से लोगों ने कर्तव्य की उपेक्षा करते हुए स्वार्थ बुद्धि से प्रेरित होकर अधिकारों पर विशेष दृष्टि रखनी शुरू की तभी से जन्मसिद्ध जातिभेद की हानिकारक पद्धति की उत्पत्ति हुई और तभी से हमारे देश का अधःपात वेग से प्रारम्भ हुआ। इससे इन्कार नहीं हो सकता कि हमारे सभी धर्मग्रन्थों में ब्राह्मण का स्थान सब से ऊंचा माना गया है और यहाँ तक कह दिया गया है कि "सर्वस्वं ब्राह्मणस्येदं यत्किञ्चिद् जगतीगतम्"। संसार में जो कुछ भी है उसका मालिक ब्राह्मण ही है दूसरे सब लोग ब्राह्मण की दया से ही भोग करते हैं इत्यादि, किन्तु उस ब्राह्मण का जो कठिन आदर्श बताया गया है उसको दृष्टि में न रखते हुए लोग कह देते हैं कि धर्मशास्त्रकारों ने ब्राह्मणों का अनुचित पक्षपात किया है वस्तुतः बात ऐसी नहीं है मनु० में लिखा है कि—

उत्पत्तिरेव विप्रस्य, मूर्तिर्धर्मस्य शाश्वती।
स हि धर्मार्थमुत्पन्नो ब्रह्मभूयाय कल्पते॥
१।९८।९९॥

ब्राह्मण क्या है मानो धर्म की साक्षात् मूर्ति है। वह धर्म के लिए उत्पन्न हुआ है इसलिए धर्म का पालन करता हुआ ही वह मोक्ष प्राप्त कर सकता है। ब्राह्मण मानो पैदा ही धर्मकोश की रक्षा के लिए होता है इसी लिये वह सारे भूतों का ईश्वर माना जाता है। इस प्रकार के श्लोकों से यह बात स्पष्ट प्रमाणित होती है कि मनु महाराज ऐसे धर्ममूर्ति धर्मकोश के रक्षक तपस्वी ब्राह्मणों की ही पूजा करने का आदेश करते हैं नामधारी जन्मभट्टों की नहीं। मनु० १०।३ में ब्राह्मण सब वर्णों में श्रेष्ठ क्यों माना गया है इस बात की व्याख्या करते हुए कहा है—

वैशेष्यात्प्रकृतिश्रैष्ठ्यान्नियमस्य च धारणात्।
संस्कारस्य विशेषाच्च वर्णानां ब्राह्मणः प्रभुः॥

तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण के अन्दर अन्य वर्णों की अपेक्षा ज्ञान तप इत्यादि विशेष होते हैं उसकी प्रकृति या स्वभाव के अन्दर अधिक सात्त्विकता रहती है, वह वेदाभ्यास इत्यादि नियमों का तथा अग्निहोत्रादि का विशेष रूप से धारण करता और अन्यों से करवाता है, इसी लिये ब्राह्मण सबसे श्रेष्ठ है। जहां इन विशेषताओं का अभाव है वहां ब्राह्मणत्व भी नहीं रह सकता। इसीलिये मनु ने कहा है कि जो ब्राह्मण-कुल के अन्दर उत्पन्न होकर भी वेद में विशेष परिश्रम नहीं करता और सन्ध्यादि नित्य नियमों का नियम पूर्वक अनुष्ठान नहीं करता वह शूद्र ही है (देखो मनु० २।१६८ और २।१०३)*। अब मनुस्मृति

* योऽनधीत्य द्विजो वेदमन्यत्र कुरुते श्रमम्।
स जीवन्नेव शूद्रत्वमाशु गच्छति सान्वयः॥
न तिष्ठति तु यः पूर्वां नोपास्ते यश्च पश्चिमाम्।
स शूद्रवद् बहिष्कार्यः सर्वस्माद् द्विजकर्मणः॥

के ही आधार पर हम ब्राह्मणों के कठिन आदर्श का थोड़ा सा उल्लेख करेंगे। मनु० २। ६२ में ब्राह्मण के विषय में लिखा है।

संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव।
अमृतस्येव चाकांक्षेदवमानस्य सर्वदा॥

अर्थात् सच्चे ब्राह्मण को चाहिये कि अपनी प्रतिष्ठा से विष की तरह डरे और अप्रतिष्ठा वा तिरस्कार का अमृत की तरह स्वागत करे। सच्चे ब्राह्मणों की पूजा करना सारे समाज का मुख्य कर्त्तव्य है किन्तु जिसको स्वयं इस बात की चिन्ता रहती है कि लोग मेरा सन्मान करें वह ब्राह्मण के सच्चे आदर्श से अभी कोसों दूर है, ऐसा समझना चाहिये। आज कौन ब्राह्मणत्वाभिमानी इस आदर्श तक पहुंचने की चेष्टा तक करता है? ब्राह्मण के लिए सादगी और स्वेच्छाकृत दरिद्रता का आदर्श रखते हुए मनु महाराज ने ४। ७ में यहाँ तक कह डाला है कि—

कुशूलधान्यको वा स्यात्कुम्भीधान्यक एव वा।
त्र्यहैहिको वापि भवेदश्वस्तनिक एव वा॥

अर्थात् ब्राह्मण अपने पास ३ वर्ष के लिए पर्याप्त सामग्री रक्खे वा १२ दिन की वा ३ दिन की अथवा सब से श्रेष्ठ ब्राह्मण तो वह है जो कल के भी भोजन का सामान अपने पास नहीं रखता। ४। ८ में स्पष्ट ही इन चारों प्रकारों में से एक से दूसरा उच्च कोटि का है, यह बतलाया है। तात्पर्य यह है कि ब्राह्मण को धन धान्य से ज़्यादह सरोकार नहीं रखना चाहिए। अपने जीवन-निर्वाह के लिए जितना आवश्यक हो उतना ही अपने पास रखना उससे अधिक नहीं क्योंकि कहा भी है 'असन्तुष्टा द्विजा नष्टाः' वेद ने तो 'ब्राह्मणोऽस्य मुखम्' कह कर ही सारा आदर्श सामने रख दिया है शेष केवल व्याख्यान है।

मनु० २। १६१ में ब्राह्मण के कर्त्तव्य बताते हुए कहा है कि वह

कितनी भी आपत्ति में क्यों न हो उसे दूसरों के दिल में चुभने वाले अप्रिय वचनों का कभी प्रयोग नहीं करना चाहिये और दूसरों का द्रोह मन वा क्रिया द्वारा कभी न करना चाहिये ।

ब्राह्मणों की ज़िम्मेवारी पर भी इस प्रसङ्ग में विचार कर लेना चाहिये। मनुष्यसमाज में सच्चे ज्ञान का प्रसार कर के शान्ति स्थापन करना यह ब्राह्मणों का ही कर्त्तव्य है । न केवल आध्यात्मिक बल्कि व्यावहारिक ज्ञान के भण्डार का अध्यक्ष भी ब्राह्मण को ही होना चाहिये इसीलिये मनु ने अ० १० । २ में कहा है कि—

सर्वेषां ब्राह्मणो विद्याद् वृत्त्युपायान् यथाविधि ।
प्रब्रूयादितरेभ्यश्च स्वयं चैव तथा भवेत् ॥

अर्थात् ब्राह्मण को चाहिये कि वह सब वर्णों के आजीविका के उपायों को जान कर उन्हें बतावे और आप अपने कर्त्तव्य में तत्पर रहे । मनु० १ । ८८ में ब्राह्मण के अपने कर्त्तव्य—

अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा ।
दानं प्रतिग्रहश्चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥

इस श्लोक द्वारा बताया गया है कि पढ़ना, पढ़ाना, यज्ञ करना कराना दान देना और आवश्यकतानुसार थोड़ा ग्रहण करना इन छः का उल्लेख है । यदि समाज में ज्ञान का क्षय और अज्ञान की वृद्धि हो, धर्म का नाश और अधर्म का विस्तार हो तो इस सारे की उत्तरदायिता अधिकतर ब्राह्मणों के ही सिर पर पड़ती है । ब्राह्मणों की इस ज़िम्मेवारी को ही ध्यान में रखते हुए मनु महाराज ने अ० ८ । श्लो० ३३७, ३३८ में कहा है कि शूद्र को चोरी करने पर जहां ८ रु० दण्ड हो वहां वैश्य को १६ रु० क्षत्रिय को ३२ रु० ब्राह्मण को ६४, १०० वा १२८ रु० दण्ड

होना चाहिये क्योंकि वह ज्ञानसम्पन्न होते हुए फिर इस पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। *

इस तरह के श्लोकों से यह बात साफ़ ज़ाहिर होती है कि ब्राह्मणों की प्रतिष्ठा सब से अधिक होनी चाहिये ऐसा जहां धर्म-शास्त्रकारों ने कहा है वहां उनका जीवन अत्यन्त सादा और कठिन तपोमय बताया है और साथ ही सबसे अधिक उत्तरदायिता उनकी मानी गई है जिसको न समझने पर न केवल वे अपनी उच्च पदवी से गिर जाते हैं बल्कि सबसे अधिक पाप और दण्ड के भागी होते हैं जैसा कि ऊपर दिखाया जा चुका है। अब ब्राह्मणोचित गुणों पर शास्त्रीय दृष्टि से यहां थोड़ा सा विचार करेंगे। शुक्र नीतिसार अ० १ श्लोक ४० में ऐसा कहा है।

ज्ञानकर्मोपासनाभिर्देवताराधने रतः।
शान्तो दान्तो दयालुश्च ब्राह्मणश्च गुणैः कृतः॥

जिसका तात्पर्य यह है कि जो पुरुष ज्ञान कर्म और उपासना के द्वारा परमेश्वर और दूसरे ज्ञानियों की पूजा में तत्पर है जो शान्त, संयमी और दयालु है वही शम दम दयादि गुण सम्पन्न पुरुष ही ब्राह्मण है।

महाभारत शान्ति पर्व अ० १८९ में भरद्वाज के प्रश्न का उत्तर देते हुए भृगु ने बताया है।

सत्यं दानमथाद्रोह आनृशंस्यं त्रपा घृणा।
तपश्च दृश्यते यत्र स ब्राह्मण इति स्मृतः॥

---

* अष्टापाद्यं तु शूद्रस्य स्तेये भवति किल्बिषम्।
षोडशैव तु वैश्यस्य द्वात्रिंशत्क्षत्रियस्य च॥
ब्राह्मणस्य चतुःषष्टिः पूर्णं वापि शतं भवेत्।
द्विगुणा वा चतुःषष्टिस्तद् दोषगुणविद्धि सः॥

मनु० अ० ८ श्लो० ३३७। ३३८॥

अर्थात् सत्य दान अद्रोह, अक्रूरता, उचित लज्जा, करुणा और तप ये गुण जहां दिखाई देवें वही ब्राह्मण है। आगे जाकर यह भी स्पष्ट कह दिया है कि यदि शूद्र-कुलोत्पन्न किसी पुरुष के अन्दर ये गुण पाये जायं तो वह शूद्र नहीं वल्कि ब्राह्मण है और जिस ब्राह्मण-कुलोत्पन्न पुरुष के अन्दर इनका अभाव हो वह ब्राह्मण नहीं किन्तु शूद्र ही है।

शूद्रे तु यद् भवेल्लक्ष्मं द्विजे तच्च न दृश्यते।
न वै शूद्रोभवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च॥
यत्रैतल्लक्ष्यते सर्पवृत्तं स ब्राह्मणः स्मृतः।
यत्रैतन्न भवेत्सर्पं तं शूद्रमिति निर्दिशेत्॥

महाभारत शान्ति पर्व अ० ७९ में पुरोहित का जो लक्षण किया है वह भी इस विषय में खूब मनन करने योग्य है।

आनृशंस्यं सत्यवाक्यमहिंसा तप आर्जवम्।
अद्रोहोऽनभिमानश्च ह्रीस्तितिक्षा दमः शमः॥
यस्मिन्नेतानि दृश्यन्ते स पुरोहित उच्यते॥ ४॥

जिसका अर्थ यह है कि जिसके अन्दर अक्रूरता, सत्यवादिता, अहिंसा, तप, सरलता, ईर्ष्या द्वेष का अभाव, अभिमान रहितता उचित लज्जा, सहनशक्ति, मनःसंयम और शान्ति ये गुण पाये जायं उसी को पुरोहित कहते हैं अन्य किसी को नहीं। अब जिन्हें पुरोहित के नाम से कहा जाता है उनमें से क्या एक प्रतिशतक में भी यह लक्षण घट सकता है? नहीं तो फिर उनकी पूजा करना कैसे शास्त्रानुकूल है स्वयं बुद्धिमान् विचार करें।

शुक्रनीति का पुरोहित के विषय में लेख इससे भी अधिक स्पष्ट और शिक्षाप्रद है उसका यहां उल्लेख करना अत्यावश्यक जान पड़ता है।

मन्त्रानुष्ठानसम्पन्नस्त्रैविद्यः कर्मतत्परः ।
जितेन्द्रियो जितक्रोधो लोभमोहविवर्जितः ॥ ७८ ॥
षडङ्गवित्साङ्गधनुर्वेदविच्चार्थधर्मवित् ।
यत्कोपभीत्या राजापि धर्मनीतिरतो भवेत् ॥ ७९ ॥
नीति शस्त्रास्त्रव्यूहादि कुशलस्तु पुरोहितः ।
सैवाचार्यः पुरोधा यः शापानुग्रहयोः क्षमः ॥ ८० ॥

इन श्लोकों में पुरोहित के पूर्ण ज्ञानी अर्थात् वेद वेदाङ्ग धनुर्वेद नीति-शास्त्र अर्थ धर्मशास्त्र इत्यादि के पूर्ण पण्डित होने का जहां विधान है वहां साथ ही जितेन्द्रियत्व और लोभ मोह क्रोध इत्यादि से रहितत्व को भी आवश्यक माना गया है और उसके अन्दर इतनी आत्मिक शक्ति होनी चाहिये कि उसके नाराज़ होने के डर से राजा सदा धर्म और नीति के मार्ग पर चलता रहे ऐसा शुक्राचार्य ने वर्णन किया है। क्या समाज का यही आदर्श नहीं कि ऐसे महानुभावों को सबसे ऊंचा स्थान दिया जाय? ऊंचा पद देने से तात्पर्य ५, १० हज़ार मासिक की नौकरियों से नहीं क्योंकि द्रव्य आवश्यकता से अधिक अपने पास रखना तक वे सच्चे ब्राह्मण पाप समझते हैं बल्कि मतलब यह है कि ऐसे स्वार्थ-रहित ब्राह्मणों के न्याय-विभाग के अधिकारी होने से कभी अन्याय न न होगा, कभी प्रजा की उचित स्वतन्त्रता पर कुठाराघात करने वाले नियम न बन सकेंगे बल्कि धर्मविरुद्ध आचरण करने वाले राजा को भी गद्दी से परे उतार कर फेंक देने की ताक़त इन लोगों के हाथ में रहेगी। प्राचीन व्यवस्था के अनुसार जिसका हमने संक्षेप से यहां दिग्दर्शन कराया है राजनियम वा कानून बनाना इन्हीं सर्वथा निःस्वार्थ ब्राह्मणों के हाथ में रहता था और राजा को भी उनकी आज्ञा शिरोधार्य करनी पड़ती थी जैसा कि मनु महाराज ने अ० १२ श्लो० ११०–११३ में कहा है—

दशावरा वा परिषद् यं धर्मं परिकल्पयेत् ।
त्र्यवरा वापि वृत्तस्था तं धर्मं न विचालयेत् ॥
एकोऽपि वेदविद् धर्मं यं व्यवस्येद् द्विजोत्तमः ।
स विज्ञेयःपरो धर्मो नाज्ञानामुदितोऽयुतैः ॥

अर्थात् वेद, तर्कशास्त्र, निरुक्त, धर्मशास्त्र इत्यादि में निपुण १० बड़े २ विद्वान् मिल कर जो नियम बना दें अथवा ऐसे सदाचारी तीन वेदज्ञ विद्वान् भी जो नियम बना देवें और तीन भी क्यों, यदि एक भी पूर्ण वेदवेत्ता ब्राह्मणश्रेष्ठ कोई क़ानून बना देवे तो उसी को बड़ा धर्म समझा जाय, १० हज़ार की संख्या में इकट्ठे होकर अज्ञानी जिस नियम को बनावें वह माननीय न समझा जाय। मनु महाराज ने यह जो व्यवस्था दी है वह किसी पक्षपात से प्रेरित होकर नहीं किन्तु समाज-हित की दृष्टि से ही दी है। आज ऐसे स्वार्थ-रहित न्याय-व्यवस्थापक ब्राह्मणों के अभाव से सभ्य कहलाने वाले देशों में भी जो न्याय का खून किया जा रहा है उसका 'The sins of legislators' इत्यादि लेखों में हर्बर्ट स्पेन्सर जैसे धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों ने बड़ा ही मर्मस्पर्शी चित्र खींचा है उसमें से केवल दो चार वाक्यों का यहां उल्लेख कर देना अनुचित न होगा इसका विवरण किसी दूसरे अध्याय में दिया जायगा।

"In civil cases the ruling agency cares scarcely more than of old about rectifying the wrongs of the injured, but practically its deputy does little else than to enforce the rules of the fight, the result being less a question of equity than a *question* of *pecuniary* ability and forensic skill."

(Man versus the state p. 41)

अर्थात् दीवानी मुकद्दमों में अधिकारिवर्ग अब भी पहले की तरह जिनको वास्तव में हानि पहुंचाई गई है ऐसे दुखियों के दुःख दूर करने की बहुत ही कम चिन्ता करते हैं। किन्तु क्रियात्मक रूप से, न्याय विभाग का अधिकारिवर्ग, लड़ाई के नियमों को काम में लाने के अतिरिक्त प्रायः और कुछ नहीं करता। परिणाम यह होता है कि अदालतों में न्याय का प्रश्न नहीं होता बल्कि आर्थिक शक्ति वा ज्यादह पैसे और मुकद्दमे बाज़ी में हुशियारी का प्रश्न रह जाता है जिसके पास ये दो चीज़ें ज्यादह हों, वही जीतता है चाहे वह भयङ्कर घातक ही क्यों न हो। इस विषय का विस्तार यहां अनावश्यक है। दिखाना यह था कि ब्राह्मणों के गुण, कर्त्तव्य और अधिकारों को दृष्टि में रखते हुए यदि हम प्राचीन वर्ण-व्यवस्था पर विचार करें तभी उसके तत्त्व को अच्छी तरह समझ सकते हैं अन्यथा नहीं।

क्षत्रियों के गुण, कर्त्तव्य और अधिकार

ब्राह्मणों के गुण, कर्त्तव्य और अधिकारों पर एक सरसरी नज़र दौड़ाने के पश्चात् अब हम क्षत्रियों के बारे में थोड़ा विचार करना चाहते हैं। वेद इस विषय में कहता है "बाहू राजन्यः कृतः" शरीर में भुजाओं का काम सारे शरीर की बाह्य और आन्तरिक आक्रमणों से रक्षा करना है। जब कभी कोई शत्रु हमें मारने के लिये उपस्थित होता है तो ये हाथ हैं जो आत्मरक्षार्थ आगे बढ़ते हैं। इसी तरह यदि कहीं पैर में वा दूसरी जगह कांटा लग जाता है तो उसे निकालने का काम ये हाथ ही करते हैं सारे शरीर में सब से अधिक फुर्तीलापन हाथ के भाग में ही पाया जाता है। इसी तरह जो लोग मनुष्यसमाज वा राष्ट्र की आन्तरिक और बाह्य शत्रुओं के आक्रमणों से रक्षा करते हैं वही शूर फुर्तीले पुरुष क्षत्रिय कहाते हैं बुज़दिल खटिया के ऊपर दिन चढ़े तक लेट कर

कुश्ती करने वाले और गोली के शब्द सुनते ही मूर्छित हो जाने वाले पुरुष नहीं, चाहे वे कितने ही ऊंचे क्षत्रिय-कुल में क्यों न पैदा हुए हों। संस्कृत के क्षत्र और क्षत्रिय शब्द पर्याय वाचक हैं। क्षत्र शब्द की व्युत्पत्ति कविकुलशिरोमणि कालिदास ने इन सुन्दर शब्दों में की है।

क्षतात् किल त्रायत इत्युदग्रः क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढः।

जिनका अर्थ यह है कि जो क्षत अर्थात् आक्रमण प्रहार या आपत्ति से रक्षा करता है वही संसार में क्षत्रिय कहाता है। क्षत्रियों के गुण बताते हुए शुक्राचार्य ने कहा है।

लोकसंरक्षणे दक्षः शूरो दान्तः पराक्रमी।
दुष्टनिग्रहशीलो यः स वै क्षत्रिय उच्यते॥

अर्थात् जो लोक की रक्षा करने में चतुर हो, शूर, आत्मसंयमी, पराक्रमी और दुष्टों को दबाने में समर्थ हो, वही क्षत्रिय कहाता है। मनु० १। ८९ में क्षत्रिय के लिये ऐसा कहा है।

प्रजानां रक्षणं दानमिज्याध्ययनमेव च।
विषयेष्वप्रसक्तिश्च क्षत्रियस्य समासतः॥
मनु० १। ८९॥

जिसका तात्पर्य यह है कि प्रजाओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, वेद इत्यादि पढ़ना और विषयों के अन्दर न फँसना ये क्षत्रियों के मुख्य धर्म हैं। भगवद् गीता अ० १८ श्लो० ४३ में श्री कृष्ण भगवान् ने शौर्य, तेज धैर्य, चतुरता युद्ध में पीठ न दिखाना, दान और मालिकपन कर रहना ये बातें सच्चे क्षत्रियों के अन्दर स्वाभाविक तौर पर रहती हैं ऐसा कहा है।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च, क्षात्रं कर्म स्वभावजम्॥

ब्राह्मण और क्षत्रियों की प्रकृति में बड़ा भेद यह है कि जहां ब्राह्मण के अन्दर शुद्ध सात्विक भाव की प्रधानता होती है वहां क्षत्रिय के अन्दर सत्व के साथ २ रजोगुण का अंश भी बहुत कुछ मिला रहता है। ब्राह्मण केवल कर्तव्य के भाव से प्रेरित होकर काम करता है किन्तु क्षत्रिय के अन्दर कीर्ति प्राप्त करने की प्रबल भावना रहती है। ब्राह्मण, कीर्त्ति और शक्ति का बिलकुल भूखा नहीं होता किन्तु क्षत्रिय के अन्दर रजोगुण की मात्रा मिली रहने के कारण ये दोनों इच्छाएं प्रबल रूप से रहती हैं। मुख्यतया ब्राह्मण और क्षत्रियों में गुणकृत भेद यही हैं।

ब्राह्मण और क्षत्रियों का सम्बन्ध

ब्राह्मण और क्षत्रियों के गुण और कर्तव्यों पर पृथक् २ विचार ऊपर किया जा चुका है अब उनके सम्बन्ध पर थोड़ा विचार करना है। शरीर के अन्दर जो यह मस्तिष्क है वह अन्य सब अवयवों के हित का विचार करता हुआ उन्हें योग्य आज्ञाएं देता है। जिस समय कोई हमारे ऊपर अथवा हमारे किसी मित्र वा गरीब आदमी के ऊपर आक्रमण करना चाहता है तो उसी समय दिमाग़ की तरफ़ से भुजाओं को आत्मरक्षार्थ उपाय करने की आज्ञा होती है। जब किसी दीन व्यक्ति का आर्तनाद हमारे कानों में पड़ता है तो मस्तिष्क की ओर से पैरों को वहां जाकर दुःखी के दुःख दूर करने का आदेश होता है। पेट को खाली पाकर क्षुधा-निवृत्ति के लिए जब कुछ अन्दर डालने की आवश्यकता मालूम होती है तो पहले दिमाग़ के अन्दर हम विचार कर लेते हैं कि अमुक वस्तु के गुण-दोष क्या हैं, नेत्रों के द्वारा उसे देख लेते हैं, नाक द्वारा सूंघ कर यह पता लगा लेते हैं कि वह वस्तु कहीं दुर्गन्धित तो नहीं, इस प्रकार पता लगाकर उसे पेट के अन्दर डाल लेते हैं। तात्पर्य यह कि मुख भाग के द्वारा ही एक तरह से सारे शरीर का संचालन हो रहा है जब मस्तिष्क के अन्दर विकार आ

जाता है तो सारे अङ्गों की चेष्टाएं गड़बड़ और हानिकारक हो जाती हैं तब कोई भी अङ्ग ठीक तौर पर अपने व्यवहार को करने में समर्थ नहीं रहता, यही हालत समाज रूपी शरीर की है। क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र तबतक न तो अपने कर्तव्य को जान सकते हैं और न कोई उपयोगी कार्य कर ही सकते हैं जबतक सच्चे ब्राह्मण उनके मार्गदर्शक न हों। इसीलिये स्वयं वेद ने कह दिया है—

यत्र ब्रह्म च क्षत्रं च सम्यञ्चौ चरतः सह।
तं पुण्यं लोकं प्रज्ञेषं यत्र देवाः सहाग्निना॥

अर्थात् पुण्य देश वही है जहां सब ज्ञानी लोग मिल कर एक उत्तम नेता के साथ रहें और जहां ब्राह्मण और क्षत्रिय एक ही उद्देश्य रखते हुए साथ २ अविरोधिरूप से विचरण करें। इस सुन्दर वेद मन्त्र की व्याख्या महाभारत शान्ति पर्व के राजधर्म अ० ७३ में बहुत ही उत्तमता से की गई है, ये श्लोक इतने महत्त्व पूर्ण हैं कि उनका उल्लेख किये बिना हम नहीं रह सकते। श्लोक ४६ में कहा है—

द्विधा हि राष्ट्रं भवति क्षत्रियस्य।
ब्रह्म क्षत्रं यत्र विरुध्यतीह॥

अर्थात् जहां ब्राह्मण और क्षत्रियों का परस्पर विरोध होता है उस राष्ट्र के दो टुकड़े हो जाते हैं—उस राष्ट्र की सत्ता देर तक नहीं रह सकती श्लो० ४८ में लिखा है—

नैषामर्थो वर्धते जातु गेहे।
नाधीयते तत्प्रजा नो यजन्ते॥
अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति।
ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः सन्त्यजन्ति॥

अर्थात् जो क्षत्रिय ब्राह्मणों का परित्याग कर देते वा सच्चे ब्राह्मणों

की आज्ञा का पालन नहीं करते उनके घर में ऐश्वर्य की वृद्धि नहीं होती उनकी प्रजाओं के अन्दर उत्तम शिक्षा और यज्ञ इत्यादि धार्मिक कृत्यों का प्रचार नहीं रहता इस तरह वे दस्यु रूप हो जाते हैं। श्लो० ५२ में कहा है—

ब्रह्मवृक्षो रक्ष्यमाणो मधु हेमं च वर्षति।
अरक्ष्यमाणः सततमश्रु पापं च वर्षति॥

अर्थात् यदि इस ब्राह्मण रूपी वृक्ष की रक्षा करो तो यह शहद और सुवर्ण के समान उत्तम गुण और ऐश्वर्यों की वर्षा करने वाला होता है यदि रक्षा न करो तो यह आंसु और पापों की वृष्टि लगातार करता है। इसलिये राजा का कर्तव्य है कि वह ब्राह्मण और क्षत्रियों के अन्दर ऐसा विरोधभाव कभी न होने दे किन्तु किसी बड़े भारी विद्वान् पुरुष को अपना पुरोहित बनाए।

मिथो भेदाद् ब्राह्मणक्षत्रियाणां प्रजा दुःखं दुःसहं चाविशन्ति।
एवं ज्ञात्वा कार्य एवेह विद्वान् पुरोहितोऽनेकविधो नृपेण॥

ब्राह्मण और क्षत्रियों के विरोध का परिणाम यह होता है कि सारी प्रजा दुःखित हो जाती है। जब सदाचारी निःस्वार्थ ब्राह्मण नियम बनाने वाले न हों तो राजा लोग अपने स्वार्थ को सिद्ध करने के लिए मनमाने क़ानून बना डालते हैं जिनके कारण प्रजा को भारी कष्ट उठाना पड़ता है इसलिये राजा को चाहिये कि वह बड़े विद्वान् श्रेष्ठ ब्राह्मण को अपना प्रधानामात्य बनाए तभी प्रजा का यथार्थ कल्याण हो सकता है।

वैश्यों के कर्तव्य और अधिकार

वैश्य के विषय में वेद कहता है 'ऊरू तदस्य यद् वैश्यः' अथर्व वेद में 'मध्यं तदस्य यद् वैश्यः' ऐसा पाठ है जिस का तात्पर्य यह है कि शरीर में मध्य-भाग का अर्थात् पेट से जङ्घा तक के भाग का जो

कार्य है, समाज में वही कार्य करने वाले वैश्य होते हैं। शरीर का यह भाग अन्य सब भागों की अपेक्षा अधिक आरामतलब और भोगप्रिय है। अन्न इत्यादि का संचय भी यही करता है। भोजन का परिपाक करके रुधिरादि रूप में उसे परिणत करके यही भाग फेफड़ों-इत्यादि में उसे भेजता है। चैतन्य का अंश इस भाग के अन्दर थोड़ा ही है। एक स्थान से दूसरे स्थान तक जाना जङ्घाओं के बिना असम्भव होता है इसी तरह जो पुरुष बहुत उच्च ज्ञान से सम्पन्न नहीं होते, जो धन को संग्रह करके ब्राह्मण क्षत्रिय और शूद्रों के उपयोग के लिए उसका योग्य विभाग कर देते हैं, जो व्यवहार के लिये इधर उधर जाते हैं, वे वैश्य कहाते हैं। उनके विषय में शुक्राचार्य ने कहा है—

क्रयविक्रयकुशला ये सततं पण्यजीविनः।
पशुरक्षाः कृषिकरास्ते वैश्याः कीर्तिता भुवि॥
शु० नी० १। ४२॥

अर्थात् जो क्रय-विक्रय में निपुण हैं जो निरन्तर व्यापार द्वारा अपनी जीविका करने वाले हैं जो पशुओं की रक्षा और कृषि के काम में तत्पर हैं उन्हें संसार में वैश्य के नाम से कहा जाता है। श्रीकृष्ण महाराज ने गीता में भी यह कह कर ऊपर दिये हुए भाव की ही पुष्टि की है।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्य कर्म स्वभावजम्।
१८। ४४॥

मनुस्मृति में भी वैश्यों का काम पशुओं की रक्षा, दान, यज्ञ करना, वेदाध्ययन करना, व्यापार और ब्याज द्वारा आजीविका चलाना यह बताया गया है—

पशूनां रक्षणं दान मिज्याध्ययनमेवच।
वाणिज्यं च कुसीदं च वैश्यस्य कृषिमेव च॥
मनु० १। ९०॥

ऊपर दिखाया जा चुका है कि ब्राह्मण और क्षत्रियों के लिए अधिक धन संग्रह करना निषिद्ध माना गया है। ब्राह्मणों में तो अश्वस्तनिक अर्थात् अगले दिन के लिये आवश्यक भोजन सामग्री भी अपने पास न रखने वाले को सब से श्रेष्ठ माना गया है इसलिये इन दोनों का और ग़रीब शूद्रों का जिन्हें काम में लगाना वैश्यों का ही काम है, आधार आर्थिक दृष्टि से वैश्यों के ऊपर है। वैश्यों के ऊपर ब्राह्मण वा क्षत्रियों के समान कोई बड़ी भारी उत्तरदायिता नहीं, उनका जीवन तपोमय या कठिन जीवन नहीं बल्कि थोड़ा बहुत भोग-विलास करने की भी उन्हें छुट्टी दे दी गई है पर इस ऐश्वर्य के साथ २ ही यदि वे सन्मान और शक्ति को भी अपने हाथ में रखना चाहें तो उन्हें धर्मशास्त्रकार कह देते हैं कि नहीं। प्रतिष्ठा, कीर्ति, शक्ति और धन ये सब चीजें तुम्हें इकट्ठी नहीं मिल सकतीं इन में से जो तुम्हें पसन्द हो ले लो। यदि सन्मान के योग्य होना चाहते हो तो सब भोग-सामग्री पर लात मार कर तपस्यामय स्वार्थरहित जीविन व्यतीत करना पड़ेगा यदि तुम्हें शक्ति प्राप्त करने की लालसा है तो भी लोकसंरक्षण की बड़ी ज़िम्मेदारी अपने ऊपर लेनी पड़ेगी और धन का मोह छोड़ना पड़ेगा यदि तुम उस मोह से ऊपर उठने को तैयार नहीं तो धर्मपूर्वक वैश्य-जीवन व्यतीत करो तुम्हें उचित भोग करने और ऐश्वर्य पैदा करने की आज्ञा रहेगी पर सन्मान और शक्ति तुम्हें न मिलेगी। वैश्यों के लिये देश देशान्तरों की भाषाएं जानने तथा क्रय-विक्रय के उपयोगी सब प्रकार के ज्ञान प्राप्त करने को आवश्यक माना गया है उसका विस्तार करने की यहां ज़रूरत नहीं।

शूद्रों के कर्तव्य और अधिकार

अब तक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्यों के गुण कर्त्तव्य और अधिकारों पर विचार किया जा चुका है। शास्त्रों की परिभाषा में इन तीनों

वर्णों के लिए द्विज वा द्विजन्मा शब्द का प्रयोग होता है क्योंकि विद्या माता और आचार्य पिता से वेदारम्भ तथा उपनयन संस्कार के द्वारा इनका एक तरह से द्वितीय जन्म होता है। मनु० अ० २ श्लो० ३८, ३९ में स्पष्ट कहा है कि ब्राह्मण कुलोत्पन्न का १६, क्षत्रिय कुलोत्पन्न का २२ और वैश्य कुलोत्पन्न का २४ वर्ष की अवस्था तक उपनयन अवश्य ही हो जाना चाहिये और यदि यह उस आयु तक न किया जाय तो ये तीनों वर्णों के पुरुष पतित होकर शूद्र पदवी को प्राप्त हो जाते हैं तब उनके साथ विवाहादि सम्बन्ध तक भी द्विजों को न करना चाहिये जब तक वे विशेष प्रायश्चित्त करके फिर शुद्ध न हो लेवें। * समाज को धर्म मार्ग पर सदा स्थित रखने के लिये हमारे बुद्धिमान् धर्म शास्त्रकारों ने इस तरह के सामाजिक वहिष्कार के प्रबल शस्त्र को मौके २ पर काम में लाने की आज्ञा दी है। शूद्र के कर्तव्य के बारे में मनु इतना ही कहते हैं।

एकमेव तु शूद्रस्य प्रभुः कर्म समादिशत्।
एतेषामेव वर्णानां शुश्रूषामनसूयया॥

मनु० १। ९१॥

अर्थात् शूद्र का एक ही काम है और वह है प्रथम तीन वर्णस्थ स्त्री-पुरुषों की ईर्ष्या न करते हुए सेवा करना। श्री कृष्ण महाराज भगवद्-गीता में 'परिचर्यात्मकं कर्म, शूद्रस्यापि स्वभावजम्'। कह कर इसी भाव की पुष्टि करते हैं। शुक्राचार्य अपने नीतिशास्त्र अ० १ श्लो० ४३ में शूद्रों का कर्तव्य बताते हुए—

* अत ऊर्ध्वं त्रयोऽप्येते यथा कालमसंस्कृताः।
सावित्रीपतिता व्रात्या भवन्त्यार्य विगर्हिताः॥
नैतैरपूतैर्विधिवदापद्यपि हि कर्हिचित्।
ब्राह्मान् यौनांश्च सम्बन्धानाचरेद् ब्राह्मणैः सह॥

द्विजसेवार्चनरताः शूराः शान्ता जितेन्द्रियाः ।
सीरकाष्टतृणवहास्ते नीचाः शूद्र संज्ञकाः ॥

ऐसा कहते हैं कि शूद्रों को भी अपने अन्दर शौर्य शान्ति जितेन्द्रियता आदि धारण करने का यत्न करना चाहिये और द्विजों की सेवा तथा पूजा में उन्हें तत्पर रहना चाहिये। इन शूद्रों के अन्दर श्रमी पाचक शिल्पी तथा चमार नाई धोबी मेहतर भङ्गी आदि सबका समावेश है। मनु० १०। ९९ में कहा ही है कि शूद्र यदि सेवा करने में विशेष निपुण न हो तो शिल्प कार्य करके आजीविका करे क्योंकि उनके कारण भी द्विजों की सेवा ही होती है। 'आर्याधिष्ठिता वा शूद्राः संस्कर्तारः स्युः।' इत्यादि आपस्तम्ब धर्मसूत्र के वचनानुसार तथा स्मृतियों में भी शूद्र के लिये पाकयज्ञ का विधान होने से उन्हीं का पाचक होना साफ़ ही है। वेदों में धीवर (कैवर्त) तखान लोहार सुनार चमार इत्यादि का अनेक स्थानों पर स्पष्ट वर्णन है और अथर्व ३। ५। ६ में तो यह प्रार्थना है कि—

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः ।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान् कृण्वभितो जनान् ।

अर्थात् जो धीवर रथ बनाने वाले तखान इत्यादि हैं उनको भी तू मेरे चारों ओर समीप बैठने वाला बना। सब प्रकार के सेवकों का इस चतुर्थ वर्ण के अन्दर समावेश हो जाता है और इन चार के अतिरिक्त कोई पांचवां वर्ण नहीं इसके लिये मनु० अ० १० का निम्न लिखित श्लोक विशेष विचारने योग्य है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यस्त्रयो वर्णा द्विजातयः ।
चतुर्थ एकजातिस्तु शूद्रो नास्ति तु पञ्चमः ॥ ४ ॥

इस श्लोक में साफ ही कहा है कि कोई पञ्चम वर्ण नहीं, फिर

७॥ करोड़ अपने भाइयों को पञ्चम वर्णान्तर्गत मानना कैसे शास्त्र-सम्मत हो सकता है ? अस्तु ।

चारों वर्णों में सबसे कम ज़िम्मेवारी शूद्र पर है । उसको कोई कठिन तप करने की आवश्यकता नहीं, उसे धन कमाने के लिये कोई अधिक परिश्रम करने की ज़रूरत नहीं, समाज वा राष्ट्र की रक्षा के लिये उसे अपने जीवन को ख़तरे में डालने की आवश्यकता नहीं केवल स्वामी की दिल से सेवा करनी है । उसकी ज़िम्मेवारी इतनी थोड़ी है कि मनु ने यहां तक कह डाला है 'न शूद्रे पातकंकिञ्चित्' A shudra can do no wrong. शूद्र कोई पाप नहीं कर सकता । यदि अज्ञान के कारण उससे कोई अपराध हो भी जाए तो उस पर अधिक क्रोध न करना चाहिये । शूद्रों को भी भोजन खिलाने के पीछे गृहस्थियों को स्वयं भोजन करने की शास्त्रों में आज्ञा है । धार्मिक कृत्यों में भाग लेने तथा संस्कारादि करने का शूद्रों को अधिकार है या नहीं इस विषय में मनु ने कहा है ।

न शूद्रे पातकं किञ्चिन्न च संस्कारमर्हति ।
नास्याधिकारो धर्मेऽस्ति, न धर्मात्प्रतिषेधनम् ॥

मनु० १० । १२६ ॥

अर्थात् शूद्र कोई बड़ा पाप नहीं कर सकता उसका संस्कार नहीं हो सकता । धर्म में उसका अधिकार नहीं किन्तु धर्म से उसे कोई रोक भी नहीं सकता यदि वह योग्य हो । इसीलिये मनु ने अगले दो श्लोकों में कह दिया है कि शूद्र कुलोत्पन्न भी यदि सदाचारी धर्म प्रेमी और धर्मज्ञ हों तो वेदों के पण्डित न होने पर भी उनकी निन्दा नहीं होती बल्कि सदाचारादि के कारण प्रशंसा तो अवश्य होती है । जैसे २ भी शूद्र कुलोत्पन्न पुरुष ईर्ष्या द्वेष रहित होकर सदाचार पूर्वक जीवन व्यतीत करता है वैसे २ वह इस लोक तथा परलोक में उत्तम गति को प्राप्त होता है ।

धर्मेप्सवस्तु धर्मज्ञाः सतां वृत्तमनुष्ठिताः ।
मन्त्र वर्ज्ज न दुष्यन्ति प्रशंसां प्राप्नुवन्ति च ॥
यथा यथाहि सद्वृत्तमातिष्ठत्यनसूयकः ।
तथातथेमं चामुं च लोकं प्राप्नोत्यनिन्दितः ॥

मनु० १० । १२७–१२८ ॥

इस प्रकार यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि जिस किसी पुरुष ने भी शूद्र कुल के अन्दर जन्म लिया है उसे सदा धार्मिक अधिकारों से वञ्चित करके दासता की अवस्था में रखना चाहिये यह शास्त्र का अभिप्राय नहीं है बल्कि छोटे बालक या पुत्र की तरह शूद्रों के साथ भी प्रीति पूर्वक व्यवहार होना चाहिये । अपने पैरों को कोई काट कर परे फैंक दे अथवा उनसे घृणा करे तो वह पुरुष जैसा मूर्ख होगा वैसे ही शूद्र कुलोत्पन्न व्यक्तियों को नीच समझ कर उनसे घृणा करने वाले समाज की दुर्गति होती है । हम आगे चल कर दिखाएंगे कि शूद्रों के लिये वेदाध्ययनादि का जो निषेध है वह सब शूद्र कुलोत्पन्न पुरुषों के लिये नहीं है और साथ ही हरेक व्यक्ति को चाहे वह कितने भी नीच कुल में क्यों न उत्पन्न हुआ हो उन्नत होने का अवसर देना चाहिये यही वैदिक वर्ण व्यवस्था का मुख्य तत्व है । जन्म से ऊंच-नीच मानने का भाव इस वर्ण व्यवस्था के सर्वथा प्रतिकूल है । यहां वेद के इस सुन्दर मन्त्र का उल्लेख कर देना ही पर्याप्त मालूम होता है ।

प्रियं मा कृणु देवेषु प्रियं राजसु मा कृणु ।
प्रियं सर्वस्य पश्यत उत शूद्र उतार्ये ॥

अ० १९ । ६२ । १ ॥

इस में ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब के साथ प्रीति से वर्तने की आज्ञा और प्रार्थना है ।

वेदाध्ययन के अधिकारानधिकार का प्रश्न

यहां पर यह आशङ्का की जा सकती है कि प्राचीन वर्ण व्यवस्था के अनुसार शूद्रों को (उन सब लोगों को जिन्होंने दौर्भाग्य से शूद्र कुल के अन्दर जन्म लिया है) वेदाध्ययन यज्ञ तथा अन्य सब धार्मिक कृत्यों में भाग लेने से वञ्चित रक्खा जाता था इससे तो समानता के सिद्धान्त का भङ्ग होता है और साथ ही एक वर्ण के प्रति घृणा का भाव प्रकट होता है। इसके उत्तर में हम इतना ही कहना चाहते हैं कि—

"श्रवणे जतुत्रपुभ्यां कर्ण परि पूरणमुच्चारणे जिह्वाच्छेदः।"

अर्थात् यदि कोई शूद्र कुलोत्पन्न पुरुष वेद मन्त्र सुन ले तो उसके कानों को सीसे और लाख से भर दो, उच्चारण करे तो उसकी जिह्वा काट दो इत्यादि अमानुषिक क्रूर नियम जिन नवीन स्मृति लेखकों ने बनाये उन के अन्दर निःसंदेह यही शूद्रों के प्रति घृणा और अपने को ऊंचा समझने का भाव था पर सब शास्त्रकारों पर यह लाञ्छन लगाना ठीक न होगा।

यथेमां वाचं कल्याणी मावदानि जनेभ्यः।
ब्रह्मराजन्याभ्याꣳशूद्राय चार्याय चारणाय च स्वाय॥
यजुर्वेद २६। २॥

फलार्थत्वात्कर्मणः शास्त्रं सर्वाधिकारं स्यात्।
पूर्व मीमांसा अ० ६। पा० १॥

श्रावयेच्चतुरो वर्णान् कृत्वा ब्राह्मणमग्रतः।
वेदस्याध्ययनं हीदं, तच्च पुण्यं महत्स्मृतम्॥
महा० शान्तिपर्व अ० ३२७। ४८–४९॥

इत्यादि विधानों तथा वेद व्यास जैसे अद्वितीय विद्वान् द्वारा "चारों वर्णों के लोगों को यह वैदिक आदेश सुनाओ" शिष्यों के प्रति कहे हुए इस प्रकार के वाक्यों से चारों वर्णों को वेदादि अध्ययन करने का अधिकार स्पष्ट विदित होता है। जहां निषेध है वह प्रत्येक शूद्र कुलोत्पन्न के लिये नहीं बल्कि—

सर्व भक्षारतिर्नित्यं, सर्वकर्म करोऽशुचिः।
त्यक्त वेदस्त्वनाचारः, स शूद्र इति संज्ञितः॥

महाभारत शा० प० अ० १८९॥

इत्यादि वचनों के अनुसार जो सब प्रकार के मांस मद्यादि का सेवन करने वाले, सब तरह के काम करने वाले, अपवित्र रहने वाले सदाचार हीन वेद शास्त्र का परित्याग करने वाले पुरुष हैं वही शूद्र हैं और जब तक वे सदाचारी न बन जाएं, जब तक वे मद्य मांसादि का परित्याग न करदें, तब तक वास्तव में ऐसे लोगों को उच्च वैदिक ज्ञान को प्राप्त करने का अधिकार न देना चाहिये क्योंकि मलिन बुद्धि होने के कारण वे उसे समझाने पर भी ठीक समझने में असमर्थ होंगे। यहां यह बात भी देखने लायक है कि शूद्र का लक्षण बताते हुए उसके लिए 'त्यक्त वेदः' यह विशेषण दिया है जिसका अर्थ यह है कि उसने स्वयं वेदाध्ययनादि छोड़ दिया है ज़बर्दस्ती उससे छुड़ाया नहीं गया। जब स्वयं ही उसने वेद छोड़ा है तो खुद ही वह फिर उसे शुरू करके अपने को उन्नत कर सकता है इस में कोई संदेह नहीं।

महाभारत शान्ति पर्व अ० १८८ में एक ही ब्राह्मण वर्ण से शेष तीनों वर्णों की उत्पत्ति हुई यह बताते हुए भृगु ने भरद्वाज को कहा है।

हिंसानृतप्रिया लुब्धाः, सर्व कर्मोपजीविनः।
कृष्णाः शौच परिभ्रष्टास्ते द्विजाः शूद्रतां गताः॥

अर्थात् जो ब्राह्मण अपने धर्मों का परित्याग करके हिंसा और असत्य के प्रेमी, लोभी, सब प्रकार के मध्यम और निन्दित कामों से अपनी आजीविका करने वाले तमोगुणी और पवित्रता रहित हो गये वही शूद्र कहलाये। अब हम स्वयं विचार कर सकते हैं कि ऐसे अपवित्र हिंसक असत्यवादी लोभी तमो गुणी लोगों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं, ऐसा यदि किसी शास्त्र में कहा गया तो उसमें किसी जाति विशेष के साथ पक्षपात और घृणा का भाव कैसे आ सकता है? इतना ही नहीं, शान्तिपर्व के इसीअध्याय में यह बात भी साफ़ तौर पर कह दी गई है कि—

इत्येतैः कर्मभिर्व्यस्ता द्विजा वर्णान्तरं गताः।
धर्मो यज्ञः क्रिया तेषां, नित्यं न प्रतिषिध्यते ॥ १४ ॥
इत्येते चतुरो वर्णा येषां ब्राह्मी सरस्वती।
विहिता ब्रह्मणा पूर्वं, लोभात्त्वज्ञानतां गताः ॥ १५ ॥

म० भा० शा० प० अ० १८८ ॥

इन दोनों श्लोकों का तात्पर्य यह है कि इस प्रकार ब्राह्मण भिन्न २ कर्मों के कारण दूसरे वर्णों में मिल गये। इन चारों वर्णों में से किसी के लिये भी धर्म और यज्ञ याग इत्यादि का सदा के लिये प्रतिषेध नहीं है। ईश्वरीय वेद वाणी शुरू में इन चारों वर्णों के लिये समान रूप से दी गई थी, पर लोभ से धीरे २ लोग अज्ञान में फंसते गये। पारस्कर गृह्य सूत्र का० २ पृ० ६० में शूद्राणामदुष्टकर्मणामुपनयनम्। इस सूत्र के द्वारा शूद्र कुलोत्पन्नों के लिये भी यदि वे सदाचारी हों तो उपनयन का विधान किया गया है जिससे उन का वेदाध्ययन का अधिकार बिल्कुल स्पष्ट है।

वृद्ध गौतमस्मृति अ० १६ में व्रत धारी शूद्रों के लिये भी गायत्री मन्त्र जपादि की आज्ञा दी गई है।

ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा चरितव्रतः ।
गायत्रीं मम वा देवीं सावित्रीं वा जपेत्ततः ॥

विष्णुस्मृति १ । ९ में शूद्र कुलोत्पन्नों के लिये भी ऐसा कहा है ।

पञ्चयज्ञविधानं तु शूद्रस्यापि विधीयते ।
तस्य प्रोक्तो नमस्कारः कुर्वन् नित्यं न हीयते ॥

इस श्लोक के द्वारा ब्रह्मयज्ञ (सन्ध्या और वेद पाठ) देवयज्ञ (हवन) पितृ यज्ञादि पांच यज्ञों का नमस्कार वा श्रद्धापूर्वक करना शास्त्रानुकूल माना गया है ।

महाभारत वन पर्व अ० १४९ । १८–२३ में कृतयुग (सत्ययुग) का जो वर्णन आया है उससे भी स्पष्ट तया यह प्रतीत है कि प्राचीन काल में वेदों के आदेशानुसार सब लोगों को वेदाध्ययनादि का समान अधिकार दिया जाता था ।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च कृतलक्षणाः ।
कृते युगे समभवन् स्वकर्मनिरताः प्रजाः ॥
समाश्रयं समाचारं समज्ञानं च केवलम् ।
तदा हि समकर्माणो वर्णा धर्मानवाप्नुवन् ॥
एकदेवसमायुक्ता एकमन्त्रविधिक्रियाः ।
पृथग्धर्मास्त्वेकवेदा धर्ममेकमनुव्रताः ॥

इन श्लोकों में बताया गया है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब का आचार पवित्र और ज्ञान (ज्ञान सम्पादन का अधिकार) समान था । सब एक ही देव (ईश्वर) के भक्त थे । सब वैदिक मन्त्रों से विधिक्रिया (संस्कारादि) करते थे । उनके धर्म पृथक् २ होते हुए भी सब एक ही समान वेदों के तथा वेदोक्त धर्म के मानने वाले थे । सत्ययुग ही आदर्श

युग था जब कि लोग वेदों के आदेश पर चलते थे इसमें सन्देह ही क्या हो सकता है ? वेदों का आदेश तो स्पष्ट शब्दों में यही है कि—

'ऊर्जाद् उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ।'
ऋ० १० । ५३ । ४ ॥

अर्थात् तुम सब केवल अन्न (निरामिष भोजन) का सेवन करते हुए पवित्र होकर मेरी स्तुति और हवनादि किया करो । 'पञ्चजनाः' का अर्थ निरुक्त कार ने ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र और निषाद (जंगली) ये पांच प्रकार के मनुष्य किया है ।

आपस्तम्बश्रौत सूत्र प्र० ९ का० १४ के 'तयैवावृता निषादस्थपतिं याजयेत' इत्यादि से निषाद और मिस्त्री इत्यादि शूद्राति शूद्रों के भी यज्ञ कराने का विधान है। पुराणों के कई श्लोकों में भी उपर्युक्त वैदिक भाव का समर्थन पाया जाता है । पौराणिक भाइयों को उन श्लोकों पर विशेष ध्यान देना चाहिये । भविष्य पुराण उत्तर पर्व ४ अ० १३ श्लो० ६२ में कहा है ।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्रा ये शुचयोऽमलाः ।
तेषां मन्त्राः प्रदेया वै न तु संकीर्णधर्मिणाम् ॥

यह श्लोक स्वर्णाक्षरों में लिखने योग्य है क्योंकि इसमें स्पष्ट तौर पर कहा है कि ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य और शूद्र कुलोत्पन्न जो भी शुद्ध और पवित्र हैं उनको मन्त्रों का उपदेश देना चाहिये, अन्य अपवित्र और संकुचित धर्म कर्म वालों को नहीं, क्योंकि उनमें वेदों के पवित्र ज्ञान को ग्रहण करने की योग्यता नहीं रहती । कण्व काश्यपादि ऋषियों के म्लेच्छों को शुद्ध करके वेदादि पढ़ाने की घटना का जो भविष्य पुराण प्रति सर्ग पर्व ३ । ४ । २० में आई है अगले अध्याय में वर्णन किया जाएगा । गरुड़ पुराण आचार काण्ड में शूद्रों के लिये 'शण वल्कज' (सन आदि के बने हुए) यज्ञोपवीत का विधान किया गया है यथा—

कुशसूत्रं द्विजानां स्याद् राज्ञां कौशेयपट्टकम् ।
वैश्यानां चीरजं क्षौमं शूद्राणां शणवल्कजम् ॥

यज्ञोपवीत धारण वेदाध्ययन का बाह्य चिन्ह है । इसके यहाँ बताने की आवश्यकता नहीं । इतने लेख से यह बात स्पष्ट प्रमाणित हो गई कि वेदाध्ययनादि का निर्बुद्धि दुराचारी शूद्रों के लिये निषेध ठीक ही है यह किसी पक्ष-पात से प्रेरित होकर नहीं किया गया, किन्तु जिनके अन्दर अपवित्रता, मद्य मांसादि सेवन, दुराचारादि दुर्गुण तथा स्थूल बुद्धिता नहीं, वे नीच से नीच कुल में जन्म लेने पर भी शूद्र नहीं ।

वर्ण व्यवस्था का आधार तथा तत्त्व

शास्त्रीय दृष्टि से वर्ण व्यवस्था विषयक विवेचना को समाप्त करने से पूर्व वर्ण के निश्चय में केवल गुण कर्म स्वभाव ही कारण हैं या जन्म का भी कोई स्थान है इस बात का संक्षेप से विचार कर लेना आवश्यक जान पड़ता है । निःसन्देह मनुस्मृति, प्राचीन धर्म सूत्रों और गृह्य सूत्रों में जो विधान हैं उनमें स्थान २ पर ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि वर्ण भेद को मान कर ही पृथक् २ व्यवस्था की गई है ।

अष्टमे वर्षे ब्राह्मणमुपनयेत् एकादशे क्षत्रियम् द्वादशे वैश्यम् ।
वसन्ते ब्राह्मणमुपनयेत् ग्रीष्मे राजन्यम् शरदि वैश्यम् ॥
पयोव्रतो ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षा व्रतो वैश्यः ॥

इत्यादि विधानों को देखकर यह शङ्का उत्पन्न होती है कि कहीं सचमुच केवल जन्म पर तो प्राचीन वर्ण व्यवस्था का आधार नहीं था । इस शङ्का के उत्तर में कुछ लिखने से पहले हमें निम्न लिखित शास्त्रीय वाक्यों का फिर से एक बार मनन कर लेना चाहिये ।

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव न ।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो भेदिता गुण कर्मभिः ॥
शुक्र नीति अ० १ । ३८ ॥

अर्थात् जन्म से कोई ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र वा म्लेच्छ नहीं किन्तु इस सारे वर्ण भेद का आधार गुण पर ही है।

विश्वामित्रो वशिष्ठश्च मतङ्गोनारदादयः।
तपो विशेषैः संप्राप्ता उत्तमत्वं न जातितः॥

शु० नी० ४। ४। ३८॥

अर्थात् "विश्वामित्र, वशिष्ठ, मतङ्ग, नारदादि विशेष तपस्या से उत्तम पदवी को प्राप्त हुए जाति से नहीं" यह कह कर भी शुक्राचार्य ने अपने ग्रन्थ में वर्ण भेद का आधार केवल गुण कर्म पर माना है।

न योनिर्नापि संस्कारो न श्रुतं न च सन्ततिः।
कारणानि द्विजत्वस्य वृत्तमेव तु कारणम्।
वृत्तेस्थितश्च शूद्रोऽपि ब्राह्मणत्वं स गच्छति॥

म० भा० अनुशासन पर्व अ० १४३॥

यही श्लोक ब्रह्म पुराण में भी आया है और इस में स्पष्ट बतलाया गया है कि ब्राह्मणी के गर्भ से उत्पन्न होना, संस्कार, वेद श्रवण, ब्राह्मण पिता की सन्तान होना ये सब ब्राह्मणत्व के कारण नहीं—इनके कारण कोई ब्राह्मण नहीं बन सकता बल्कि केवल वृत्त अर्थात् ब्राह्मणोचित सदाचार (वृत्तमेव) से ही पुरुष ब्राह्मण बनता है। सदाचारी शूद्र-कुलोत्पन्न पुरुष भी ब्राह्मणत्व को प्राप्त हो सकता है।

न कुलेन न जात्या वा क्रियाभिर्ब्राह्मणो भवेत्।
चाण्डालोऽपि हि वृत्तस्थो ब्राह्मणः स युधिष्ठिर॥

म० भा० अनुशासन पर्व २१६। १४॥

महाभारत के इस प्रसिद्ध श्लोक में भी कुल और जाति के कारण व्यक्ति ब्राह्मण हो सकता है। इसका स्पष्ट खण्डन करते हुए जिस चाण्डाल कुलोत्पन्न पुरुष के अन्दर भी सदाचारादि है वह ब्राह्मण ही है ऐसा युधिष्ठिर को भीष्म द्वारा स्पष्ट उपदेश दिया गया है।

यस्तु शूद्रो दमे सत्ये धर्मे च सततं स्थितः ।
तं ब्राह्मणमहं मन्ये, वृत्तेन हि भवेद् द्विजः ॥
म० भा० वनपर्व अ० २१६ ।

अर्थात् जिस शूद्र कुलोत्पन्न पुरुष के अन्दर संयम, सत्य, धर्म इत्यादि पाये जाएं उसे मैं ब्राह्मण ही मानता हूं क्योंकि निश्चय से सदाचार के द्वारा ही पुरुष ब्राह्मण बनता है । इस तरह के सैकड़ों प्रमाणों को यहां उद्धृत किया जा सकता है पर यहां ऐसा विस्तार करने की आवश्यकता नहीं । इस प्रकार के सब वाक्यों में बिल्कुल साफ़ तौर पर जन्म या जाति की ब्राह्मणत्वादि में कारणता का खण्डन किया गया है । ऐसी अवस्था में यह मानना कि जाति भी वर्ण निश्चय में एक आवश्यक अङ्ग है । सिवाय भ्रम के कुछ नहीं कहा जा सकता । वर्ण परिवर्तन के हज़ारों प्रमाण मनुस्मृत्यादि से दिये जा सकते हैं, पर हमें ध्यान में रखना चाहिये कि वर्ण व्यवस्था मुख्यतया श्रमविभाग वा Division of labour के सिद्धान्त के आधार पर कायम की गई थी । लोग अपने २ वर्ण के धर्मों का उचित रीति से पालन करके समाज सेवा करने में ही अपना कल्याण समझते थे । भिन्न २ वर्ण के पुरुषों को शिक्षा भी अपनी रुचि और आन्तरिक प्रवृत्ति के अनुसार दी जाती थी । परिणाम यह होता था कि एक साधारण नियम के तौर पर सच्चे ब्राह्मण के घर में पुत्र भी वैसा ही पैदा होता था । क्षत्रिय कुल में उत्पन्न बालक के अन्दर शुरू से ही क्षत्रियोचित गुणों का अनुकूल परिस्थिति और शिक्षा के कारण विकास होने लगता था । इसीलिये ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्यादि शब्दों का गौण रूप से भाविनी संज्ञा के तौर पर ८, १०, १२ वर्ष के बालकों के लिये प्रयोग कर दिया गया है । यह प्रयोग गौण है इसके लिये ।

शूद्रे चैतद् भवेल्लक्ष्म, द्विजे तच्च न विद्यते ।
न वै शूद्रो भवेच्छूद्रो ब्राह्मणो ब्राह्मणो न च ॥
म० भा० शा० प० अ० १८९ ॥

यह एक प्रबल प्रमाण है जिसमें कहा है कि यदि ये सत्य, दान अद्रोह अहिंसादि ब्राह्मण के अन्दर नहीं पाये जाते तो वह ब्राह्मण ब्राह्मण नहीं और वह शूद्र शूद्र नहीं। जिस कुल में परम्परा से वेदाध्ययन का क्रम चला आ रहा है उस कुल में जन्म लेने वाले बालक से यह आशा की जानी चाहिये कि वह अन्यों की अपेक्षा अधिक तीव्र बुद्धि होगा और बड़ा होकर अपवे पूर्वजों की तरह वेदों का विद्वान् बनेगा यदि वह इस आशा को पूर्ण नहीं करता तो उसे ब्राह्मण की पदवी से गिराया भी जा सकता है। जिसके कुल में बहुत देर से पढ़ने पढ़ाने का क्रम जारी नहीं रहा वह बालक बड़ा भारी विद्वान् थोड़े परिश्रम से बन जाएगा यह आशा नहीं की जा सकती तथापि इस नियम के अपवाद हरेक देश और जाति में दृष्टि गोचर होते ही हैं। तात्पर्य यह कि आनुवंशिक प्रभाव वा Heredity को भी हम सम्पूर्णतया नहीं भुला सकते पर अब ब्राह्मणत्वाभिमानियों के अन्दर भी जो ब्राह्मणत्व के चिन्ह बहुत कम रह गये हैं और लोभ इत्यादि ही उन के अन्दर अधिक मात्रा में दिखाई देते हैं, उसका कारण यह है कि वेदाध्ययन परम्परा के स्थान में भोजन भट्टता की परम्परा ही उनमें अधिक रह गई है और इसके विपरीत शूद्र कहलाने वाले कायस्थादियों के अन्दर शिक्षा परम्परा प्रचलित रहने के कारण उनकी शिक्षा का परिमाण बहुत ऊंचा हो गया है। कम से कम पांच छः हज़ार वर्ष प्राचीन वर्ण व्यवस्था की पद्धति को लुप्त हुए हो गये अब तक भी आनुवंशिक प्रभाव और रक्त शुद्धि का ढकोसला रचना सिवाय ढकोसले और मिथ्या विश्वास के कुछ नहीं कहा जा सकता। वर्ण व्यवस्था का आधार गुण कर्म स्वभाव पर है इस मन्तव्य को स्वीकार करते हुए भी कई महानुभावों ने 'स्वभाव' शब्द का जन्म अर्थ करने की चेष्टा की है वस्तुतः वह उनकी कोरी कल्पना है। स्वभाव का अर्थ Temperament अथवा प्रकृति है। सत्व रज तम इन तीन गुणों की न्यूनाधिकता के कारण

मनुष्यों की प्रकृति में भी बड़ा भेद हो जाता है जैसा कि पहले दिखाने का यत्न किया गया है, उसमें जन्म का स्थान मानना अनावश्यक है। इस विषय में भविष्य पुराण ३। ४। २३ का यह श्लोक द्रष्टव्य है।

सद्गुणो ब्राह्मणो वर्णः क्षत्रियस्तु रजोगुणः।
तमोगुणस्तथा वैश्यः गुणसाम्यात्तु शूद्रता॥

प्राचीन वर्ण व्यवस्था के सम्बन्ध में इस समय तक जो विवेचना की गई है उसका परिणाम यह निकलता है कि प्रत्येक देश और समाज के अन्दर पाए जाने वाले चार प्रकारों (Types of humanity) को व्यवस्थित करके समाज हित सम्पादन के साथ २ संसार में शान्ति स्थापन करना यही वर्ण व्यवस्था का लक्ष्य है। एक ही ईश्वर के पुत्र होने के कारण चारों वर्णों के लोग समान हैं। जो उन में उच्चता या नीचता शास्त्रों में मानी गई है वह जन्म के कारण नहीं बल्कि गुण कर्म के कारण। चारों एक ही समाज-शरीर के अवयव हैं इस लिये उनमें परस्पर प्रेम होना अत्यावश्यक है। चारों का एक दूसरे पर आधार है इनमें से एक भी न हो तो समाज के अन्दर उत्तम व्यवस्था का रहना असम्भव है। ये चारों वर्णों के लोग अपनी भिन्न २ शक्ति और योग्यता के अनुसार समाज की सेवा करते हैं और क्रमशः समाज, ब्राह्मणों को प्रतिष्ठा, क्षत्रियों को शक्ति, वैश्यों को धन-धान्य का भोग और शूद्रों को आराम देता है। किसी एक के ही हाथ में ये सब चीजें नहीं दे दी जातीं। इनमें से प्रत्येक को इस बात की स्वतन्त्रता है कि अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों को जानते हुए वह किसी एक तरह के जीवन को पसन्द करे। किसी को यह उचित नहीं कि वह स्वार्थ साधन में तत्पर होकर समाज के हित को बिल्कुल भुला बैठे। इस प्रकार स्वार्थ और परार्थ, वैयक्तिक स्वतन्त्रता और परतन्त्रता, समानता और भिन्नता का इस वर्ण व्यवस्था में अद्भुत मेल पाया जाता है यही इसकी विशेषता है।

आश्रम-व्यवस्था

भारतीय समाज शास्त्र की आधार शिला वर्णाश्रम-व्यवस्था है इस बात का हमने इस अध्याय में कई जगह निर्देश किया है। वर्ण-व्यवस्था के विषय में विस्तृत विवेचना भी शास्त्रीय दृष्टि से इस अध्याय में की गई है अब आश्रम व्यवस्था के महत्त्व पर थोड़ा प्रकाश डालना यहां आवश्यक मालूम होता है।

मनुष्य की आयु को मध्यमा १०० वर्ष मानते हुए हमारे पूर्वज आर्य ऋषियों ने वेदों के आदेशानुसार जीवन का ४ आश्रमों में विभाग किया था जिनका नाम ब्रह्मचर्य गृहस्थ, वानप्रस्थ, और सन्यास था। पूर्णानन्द रूप मोक्ष की प्राप्ति को जिसके विषय में वेद 'यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते'। इत्यादि सुन्दर शब्दों का प्रयोग करता है, जीवन का ध्येय बताते हुए भारतीय समाज शास्त्रियों ने इन चार आश्रमों को सीढ़ियों के रूप में वर्णित किया था। ब्रह्मचर्याश्रम में प्रत्येक व्यक्ति को गुरुकुलों के पवित्र वायु मण्डल में पितृ तुल्य वीत राग आचार्य और मान्य उपाध्याय वर्ग की अधीनता में रह कर अपनी शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों को सम्पूर्णतया विकसित करने का स्वर्गीय अवसर प्राप्त होता था। नगरों से दूर प्रेममय शान्त कुटीरों में निवास करते हुए प्रत्येक ब्रह्मचारी को साङ्गोपाङ्ग वेदादि शास्त्रों तथा इतिहास, गणित, विज्ञानादि का अध्ययन करना होता था। ब्रह्म अर्थात् ईश्वर की प्राप्ति तथा वेद के यथार्थ ज्ञान सम्पादन के लिये विशेष व्रत के कारण इस व्रत का नाम ब्रह्मचर्य रखा जाता था। इसके ३ मुख्य वर्ग माने जाते थे जिनके नाम क्रमशः वसु, रुद्र और आदित्य थे। कम से कम २४ वर्ष की समाप्ति तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करने वालों को वसु, ३६ वा ४४ वर्ष तक इस पवित्र व्रत का पालन करने वालों को रुद्र और ४८ वर्ष तक पूर्ण ब्रह्मचर्य पूर्वक जीवन व्यतीत करने वालों को आदित्य ब्रह्मचारी के नाम से कहा

जाता था। शारीरिक वाचिक मानसिक पवित्रता के साथ २ सम्पूर्ण आत्म संयम—यही ब्रह्मचर्य का सार है। इसके बिना मनुष्य की शक्तियों का पूर्ण विकास सर्वथा असम्भव है। इसीलिए सकाम भाव से स्त्रियों के दर्शन, स्पर्शन, एकान्तसेवन, भाषण, विषय कथा, परस्पर क्रीड़ा, विषय का ध्यान और सङ्ग इन अष्ट विध मैथुनों और सब सांसारिक चिन्ताओं से सर्वथा पृथक् रह कर पवित्र आत्म संयम पूर्वक जीवन व्यतीत करना यह ब्रह्मचारियों का मुख्य धर्म माना गया है। विद्यार्थी अवस्था में ही दो दो तीन तीन बच्चों के पिता बन जाने वाले आजकल के युवक इस आदर्श पर कहाँ तक चल रहे हैं यह बताने की आवश्यकता नहीं। दिन रात विषयोत्तेजक प्रायः श्रृङ्गार रस प्रधान काव्य, नाटक, उपन्यास पढ़ने वाले, खटाई, मिर्च तथा मसालेदार चीज़ों का अधिकता से उपयोग करने वाले, नाटक घरों में रात को गये बिना चैन न पाने वाले विद्यार्थी ही अधिकतर आज कल स्कूलों और कालेजों में दिखाई देते हैं, जिन्हें ब्रह्मचर्य के विषय में ज़रा भी ज्ञान नहीं होता और ना इस विषय का ज्ञान कराना अध्यापक वा उपाध्याय कर्त्तव्य समझते हैं। यदि सौभाग्यवश किसी अध्यापक या उपाध्याय को अपने इस कर्त्तव्य का कुछ ज्ञान होता है और वह इस प्रकार के ज्ञान को विद्यार्थियों के सामने रखने की कोशिश करता है तो उसका उपहास करने वा मख़ौल उड़ाने वाले नव युवकों की संख्या ही अधिक दिखाई देती है। पाठ्य पुस्तकों का चुनाव करते हुए इस बात का ज़रा भी ध्यान नहीं रखा जाता कि जिन ग्रन्थों के अध्ययन से विषय वासना उत्तेजित होती हो उन्हें विद्यार्थियों को न पढ़ाया जाए। इस प्रकार ब्रह्मचर्य की परिपाटी नष्ट हो जाने का परिणाम यह हो रहा है कि हमारी शारीरिक मानसिक और आत्मिक शक्तियों का विकास के स्थान में ह्रास हो रहा है। भारतीयों की आयु की मध्यमा जो 'शतायुर्वै पुरुषः' इत्यादि वाक्यों के अनुसार प्राचीन काल में १०० मानी जाती थी अब केवल २३ वर्ष रह गई है।

इससे बढ़कर शोचनीय दशा और क्या हो सकती है ? इसलिये यदि भारतीय समाज को पुनः सजीव और सबल बनाना है तो प्राचीन गुरुकुल शिक्षा पद्धति को उचित सामयिक परिवर्तनों सहित प्रचलित करना चाहिये। स्थान २ पर ब्रह्मचर्याश्रम खुलने चाहियें। विद्यार्थियों को ब्रह्मचर्य विषयक उपदेश दिये जाने चाहियें और गुरु वा उपाध्याय अध्यापकादि स्वयं ब्रह्मचारी अर्थात् गृहस्थाश्रमी होते हुए भी पूर्ण सदाचारी तपस्वी और संयमी होने चाहियें। विस्तार भय से इस विषय में अधिक नहीं लिखा जा सकता।

गृहस्थाश्रम

वेदानुकूल शास्त्रीय मर्यादा यही है कि कम से कम २५ वर्ष तक प्रत्येक युवक और १६ वर्ष तक प्रत्येक युवती ब्रह्मचर्य पूर्वक रह कर इस के पश्चात् गृहस्थाश्रम में प्रवेश करे। इसको शास्त्रकारों ने ज्येष्ठाश्रम बताते हुए इसकी महिमा का विशेष वर्णन किया है, किन्तु साथ ही बताया है कि—

स सन्धार्यः प्रयत्नेन, स्वर्गमक्षयमिच्छता।
सुखं चेहेच्छता नित्यं, योऽधार्योदुर्बलेन्द्रियैः॥

(मनुस्मृति अ० ३ श्लो० ७९)

अर्थात् जो अक्षय स्वर्ग (मोक्षादि) और इस लोक के सुख की इच्छा करते हैं उन्हें प्रयत्न पूर्वक इस आश्रम के धर्मों का पालन करना चाहिये। क्योंकि जो निर्बल इन्द्रियों वाले पुरुष हैं वे कभी इसको भली भान्ति नहीं धारण कर सकते। इसमें सन्देह नहीं कि विशुद्ध प्रेम, स्वार्थ त्याग, दूसरों के लिये कष्ट उठाना, सहानुभूति इत्यादि बातों का पाठ मनुष्य गृहस्थाश्रम में रहते हुए ही अधिकतर सीख सकता है। जिन्होंने गृहस्थ जीवन का अनुभव नहीं लिया उनमें से बहुतों के अन्दर (कुछ

अपवादों को छोड़ कर) इन गुणों का विकास बहुत कम दिखाई देता है। स्वनाम धन्य श्री शङ्कराचार्य, श्री मध्वाचार्य, ऋषि दयानन्द सरस्वती आदि महानुभावों की गणना इन अपवादों में है। गृहस्थी जिस विशुद्ध प्रेम की दीक्षा गृहस्थाश्रम में ग्रहण करता है उसके क्षेत्र को विस्तृत करते हुए वह आध्यात्मिक दृष्टि से अत्युन्नत अवस्था यहां तक कि मोक्ष को प्राप्त कर सकता है।

पर प्रश्न यह है कि गृहस्थाश्रम में प्रवेश का ठीक समय प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रज्ञों ने कौन सा बताया है ? दुर्भाग्य से बाल विवाह की पद्धति गत कई सदियों से हमारे देश में प्रचलित हो गई है किन्तु अपने प्राचीन धर्म ग्रन्थों का अनुशीलन करने पर हमें स्पष्ट विदित हो जायगा कि यह प्रथा वेदादि सत्य शास्त्रों की शिक्षा के सर्वथा विपरीत है। इस विषय पर स्त्रियों की स्थिति विषयक ७ वें परिच्छेद में प्रकाश डाला जाएगा। इतना ही लिखना पर्याप्त है कि—

सोमोवधूयुरभवदश्विनास्तामुभावरा ।
सूर्या यत्पत्ये शंसन्तीं मनसासविताददात् ॥
(ऋ० १० । ८५)

इस विवाह सूक्त के मन्त्र में स्पष्ट बताया गया है कि जब सौम्य गुण युक्त युवक वधू की कामना करता है और जब सूर्य समान वर्चस्विनी वधू पति की कामना करती है तभी सविता कन्या का पिता उसका विवाह करवाता है।

तमस्मेरा युवतयो युवानं मर्मृज्यमानाः परियन्त्यापः ।
(ऋ० ५ । ३५ । ४)

इस मन्त्र में बताया है कि जैसे नदियां समुद्र को पाकर आनन्दित होती हैं, ऐसे ही युवतियां युवक पतियों से विवाह करके सुख लाभ करती हैं।

वधूरियं पतिमिच्छन्त्येति । ऋ० ५ । ३७ । ३ ॥
एयमगन् पतिकामा जनिकामोऽहमागमम् ॥ अ०२।३०।५॥

इत्यादि सैंकड़ों वेद मन्त्रों द्वारा युवावस्था में परस्पर प्रेम पूर्वक वर वधू के विवाह की स्पष्ट आज्ञा है। यह विचार साधारणतया प्रचलित है कि स्मृति ग्रन्थों में सर्वत्र ऋतुमती होने से पूर्व कन्याओं के विवाह का विधान किया गया है अन्यथा पाप होता है। इसी विश्वास के आधार पर बाल्य विवाह निषेधक 'शारदा ऐक्ट' बनने पर भी उसका पौराणिक बन्धुओं की ओर से घोर विरोध कई जगह किया जा रहा है। वास्तव में बात यह नहीं है। स्मृत्यादि ग्रन्थों के निम्न वाक्य बाल्य विवाह के स्पष्ट विरोधी हैं।

(१) मनुस्मृति ९ । ९० । ९१ में कहा है।

त्रीणिवर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम् ॥
अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम्।
नैनः किञ्चिदवाप्नोति, न च यं साधिगच्छति ॥

अर्थात् कुमारी ऋतुमती होने के ३ वर्ष बाद तक प्रतीक्षा करे इसके पश्चात् अपने सदृश गुण कर्म स्वभाव वाले पति को प्राप्त करे। यदि इस प्रकार कन्या स्वयं पति को प्राप्त करती है तो न उसको कोई पाप लगता है और न उसके पति को। ऋतुमती के विवाह को पाप समझने वाले ध्यान से इन मनु वचनों को पढ़ें। ऋतुमती होने का समय भारत में साधारणतया १३ या १४ वर्ष है।

(२) मनुस्मृति के समान एतद् विषयक आदेश महाभारत अनुशासन पर्व अ० ४० के १७, १८ श्लोकों में भी पाये जाते हैं।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कन्या ऋतुमती सती।
चतुर्थे त्वथ संप्राप्ते स्वयं भर्तारमर्जयेत्॥ १७॥
प्रजा न हीयते तस्या रतिश्च भरतर्षभ।
अतोऽन्यथा वर्तमाना भवेद्वाच्या प्रजापतेः॥ १८॥

इन श्लोकों में कहा गया है कि कन्या ऋतुमती होने पर तीन वर्ष तक प्रतीक्षा करें और चतुर्थ वर्ष प्रारम्भ होने पर स्वयं योग्य पति को प्राप्त करे। इस प्रकार करने से उत्तम रति या गृहस्थ सुख की प्राप्ति होती है और सन्तान भी नष्ट नहीं होती। ऐसा न करके बाल्य विवाहादि करने से प्रजापति अर्थात् परमेश्वर की दृष्टि में भी कन्या निन्दित होती है। इसी प्रकार महाभारत अनुशासन पर्व अ० १०४ में बताया गया है कि—

महाकुले प्रसूतां च प्रशस्तां लक्षणैस्तथा।
वयःस्थां च महाप्राज्ञः कन्यामावोढुमर्हति॥

अर्थात् जो उत्तम कुलीन, उत्तम लक्षण युक्त युवती कन्या हो, विद्वान् पुरुष को उसीके साथ विवाह करना चाहिये।

(३) वशिष्ठस्मृति अ० ७ में भी 'कुमार्यृतुमती त्रिवर्षाण्युपासीतोर्ध्वं त्रिभ्यो वर्षेभ्यः पतिं विन्देत सदृशम्' यह कहकर ऋतुमती होने के ३ वर्ष पश्चात् अर्थात् लगभग १६ की आयु में अपने समान गुण कर्म स्वभाव वाले पति को प्राप्त करे ऐसा विधान किया गया है।

(४) ऐसे ही हारीतस्मृति अ० ४ में कहा है।

सर्वावयव सम्पूर्णां सुवृत्तामुद्वहेन्नरः।

अर्थात् जिस के सब अवयव सम्पूर्णतया वृद्धि को प्राप्त हो चुके हों और जो सदाचारिणी हो ऐसी कन्या के साथ विवाह करना चाहिये।

१६, १७ वर्ष की आयु से पूर्व 'सर्वावयव सम्पूर्णाम्' यह विशेषण कन्याओं में कभी नहीं घट सकता। यह सर्व सम्मत बात है।

(५) बृहत्पराशरसंहिता अ० १० में।

"उद्वाह उदितः स्त्रीणां यौवने बन्धुकारणात्"

ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि बन्धुओं की सहायता से युवावस्था में स्त्रियों के विवाह का विधान किया गया है।

बृहत्पराशर स्मृति अ० ४ के विवाह प्रकरण के निम्न श्लोक भी इस विषय में अत्यन्त स्पष्ट हैं जो युवावस्था में परस्पर अनुमति से विवाह के प्रतिपादक हैं।

कन्यायाश्च वरस्यापि, यत्रोभयोर्भवेद् वृतिः।
तथा कन्यां वरं धीमान् वरयेद् वंशशुद्धये ॥ श्लो० २४
स्वजातिमुद्वहेत्कन्यां सुरूपां लक्षणान्विताम्।
अरोगिणीं सुशीलां च, तथा भ्रातृमतीमपि ॥
सर्वावयवसम्पूर्णामसगोत्रां कुलाद्भवाम्।
हंस मातङ्गगमनां, मृद्वङ्गीं च सुलोचनाम् ॥ ३३ ॥
सुलज्जां शुभनादां च पतिप्रीतिकरीमपि।
श्वश्रूश्वशुरगुर्वादि-शुश्रूषा कारिणीं प्रियाम् ॥ ३४ ॥

रेखाङ्कित विशेषण युवती कन्या में ही चरितार्थ होते हैं। बृहत्पराशर स्मृति के ३३०० श्लोकों में से एक भी बालविवाह का समर्थक नहीं। अतः उसी के संक्षिप्त रूप लघु पराशर स्मृति के 'अष्टवर्षा भवेद् गौरी' इत्यादि अमान्य तथा प्रकरण विरुद्ध हैं। ग्रन्थान्त में श्लोक संख्या ५९२ बताई गई है अब ६१५ पाये जाते हैं अतः कम से कम २३ श्लोक अवश्य प्रक्षिप्त हैं।

(६) सुश्रुत संहिता शारीरिक स्थान अ० १० में कहा है।

"अथास्मै पंचविंशति वर्षाय षोडशवर्षां पत्नी मावहेत् पित्र्या धर्मार्थकाम प्रजाः प्राप्स्यतीति"

ये शब्द भी स्पष्ट तया पुरुषों के २५ और कन्याओं के १६ वर्ष की (कम से कम) आयु में विवाह को धर्मार्थ काम तथा सुसन्तान प्राप्ति की दृष्टि से प्रतिपादित करते हैं। कई नवीन संस्करणों में 'द्वादशवर्षां' यह पाठ "पंचविंशे ततोवर्षे पुमान्नारी तु षोडशे। ऊन षोडशवर्षायामप्राप्तः पंचविंशतिम्॥" शा० १०। ३५ इत्यादि के विरुद्ध होने के कारण कल्पित और अमान्य है।

विस्तार भय से अन्य प्रमाणों का यहां उल्लेख नहीं किया जा सकता। इनके विरुद्ध—

अष्ट वर्षा भवेद् गौरी, नव वर्षा तु रोहिणी।
दश वर्षा भवेत्कन्या, अत ऊर्ध्वं रजस्वला॥
माता चैव पिता चैव, ज्येष्ठो भ्राता तथैव च।
त्रयस्ते नरकं यान्ति, दृष्ट्वा कन्यां रजस्वलाम्॥

इत्यादि वचन वेदादि सत्य शास्त्र विरुद्ध होने के कारण सर्वथा अप्रामाणिक हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से भी यही प्रतीत होता है कि प्राचीन काल में श्रीसीता देवी, दमयन्ती, कुन्ती, लोपामुद्रा, देवयानी, सावित्री, अरुन्धती, सुवर्चला इत्यादि की तरह सब प्रतिष्ठित उच्च कुलीन देवियों का भी युवावस्था में और स्वयंवर रीति से विवाह होता था जैसा कि रामायण महाभारतादि पढ़ने से स्पष्ट विदित होता है। सीतादेवी जी ने अपने विषय में कहा है। 'पति संयोग सुलभं वयोदृष्ट्वातु मे पिता चिन्तामभ्यगमद् दीनो वित्त नाशादि वाधनः॥' ऐसा वा० रामायण अयोध्या का० ११८। ३४ में बताया है जिसका अर्थ यह है कि पिता को पति समागन (मैथुनादि) के योग्य मेरी आयु को देखकर मेरे विवाह की चिन्ता हुई। यह आयु १६ से कम नहीं हो सकती। कुन्ती देवीजी के विषय में "तां तुतेजस्विनीं कन्यां रूप यौवनशालिनीम्। व्या-

वृरावन् पार्थिवाः केचिद्‌तीव स्त्रीगुणैर्युताम्"|| म०भा० आदिपर्व १२ । २ में लिखा है । यहां "रूप यौवन शालिनीम्" ये शब्द विशेष द्रष्टव्य हैं । ऐसे ही दमयन्ती के विषय में 'ससमीक्ष्य महीपालः, स्वां सुतां प्राप्तयौवनाम्। अपश्यदात्मनः कार्यं, दमयन्त्याः स्वयंवरम् ।। ऐसा वनपर्व अ० ५३ । ८ में स्पष्ट लिखा है । लोपामुद्रा के विषय में 'वैदर्भी तु तथा युक्तां युवतीं प्रेक्ष्य वै पिता । मनसा चिन्तामास कस्मै दद्यामिमां सुताम् ।। वनपर्व ९६ । १३ में इस प्रकार के शब्द आये हैं जो यौवन में उसके विवाह के स्पष्ट द्योतक हैं । ऐसे ही ब्राह्मण कन्या देवयानी के विषय में 'स शीलयन् देवयानीं कन्यां संप्राप्त यौवनाम्' ये शब्द आदिपर्व अ० ७६ में आये हैं ।

इत्यादि सैंकड़ों उदाहरणों से सिद्ध है कि प्राचीन भारतीय समाज शास्त्रज्ञों ने युवावस्था में परस्पर प्रीति और ज्ञान पूर्वक विवाह को ही उत्तम बताया था, किन्तु मध्य काल में कुछ राजनैतिक तथा सामाजिक कारणों से जिन में कई नीच मुसल्मानों के द्वारा अविवाहित कुमारियों का भगा ले जाना मुख्य था उस प्रथा में परिवर्तन को कुछ समय के लिये आवश्यक बना दिया । बहुत संभवतः उस समय के स्मृतिकारों ने तात्कालिक परिस्थिति को ध्यान में रखते हुए बाल विवाह की प्रथा प्रचलित करते हुए उसी आशय के श्लोक बना डाले हों । अब इस प्रकार की कोई भयंकर परिस्थिति नहीं है, बाल्य-विवाह की हानियां भी सब विचार शील सज्जनों और महिलाओं को भली भान्ति विदित हो चुकी हैं अतः इस मध्यकालीन प्रथा का सर्वथा परित्याग करते हुए फिर से शास्त्रीय नियमानुसार प्रौढ़ विवाह की प्रथा को ही प्रचलित करना चाहिये । तभी गृहस्थ स्वर्ग धाम बन सकेंगे जैसा कि वेदों में 'इमे गृहामयोभुवः' इत्यादि शब्दों द्वारा प्रकट किया गया है और इस प्रसिद्ध अंग्रेज़ी कहावत की असत्यता सिद्ध होगी कि—

"Marriage is such an institution that those who are out of it want to get into it and those who are into it, want to get out of it."

अर्थात् विवाह की एक ऐसी विचित्र संस्था है कि जो इसके बाहर हैं वे इसके अन्दर आना चाहते हैं और जो इसके अन्दर हैं वे इसके बाहर जाना चाहते हैं। ऋतुकाल गमनादि के नियम बनाकर शास्त्रकारों ने गृहस्थ को संयम के अभ्यासार्थ एक साधन बनाया था, किन्तु दुःख की बात है कि इसे बहुत से लोगों ने केवल भोग की चीज़ समझ लिया है।

वानप्रस्थाश्रम

लगभग २५ वर्ष तक गृहस्थाश्रम का अनुभव लेकर और उसके द्वारा शुद्ध प्रेम, दया, सहानुभूति, स्वार्थ त्यागादि का पाठ सीख कर प्रत्येक द्विज के लिये वानप्रस्थी बनने का भारतीय समाज-शास्त्रज्ञों ने विधान किया था।

गृहस्थस्तु यदा पश्येद् वलीपलित मात्मनः।
अपत्यस्यैव चापत्यं तदारण्यं समाश्रयेत्॥

इसके अनुसार लगभग ५१ वर्ष की आयु में प्राचीन आर्य वानप्रस्थाश्रम में प्रवेश किया करते थे।

"पुत्रेषु भार्यां निक्षिप्य वनं गच्छेत् सहैव वा"

इस मनु वचनानुसार वानप्रस्थ में पत्नी को साथ रक्खा जा सकता था, किन्तु विषय-भोग से सर्वथा निवृत्त रहकर श्रद्धा पूर्वक धर्माचरण विशेषतः योग साधन द्वारा ब्रह्म साक्षात्कार के लिये प्रयत्न उसमें आवश्यक था उसके साथ वनों में गुरुकुल स्थापित करके वानप्रस्थी लोग शिष्य जनों को निःस्वार्थ भाव से वेद, वेदाङ्ग, विज्ञान, इतिहासादि की शिक्षा दिया करते थे। धन का लोभ छोड़कर तपस्या का जीवन व्यतीत करते हुए वे

शिष्यों को अपने पुत्र तुल्य समझते थे। ऐसे ही वानप्रस्थी तत्त्व दर्शी होने के कारण ऋषि कहलाते थे। उपनिषदें तथा दर्शन शास्त्र उन्हीं ऋषियों की अद्भुत बुद्धि के परिणाम हैं। जीवन की कठिन से कठिन समस्याओं की वे शान्त भाव से विवेचना करते और अपने अनुभव द्वारा शिष्यों तथा अन्य जिज्ञासुओं को अनुगृहीत करते थे। वानप्रस्थी सार्वजनिक कार्यों में अपना सम्पूर्ण जीवन व्यतीत करते थे अतः कभी स्वार्थ त्यागी कार्य कर्ताओं की कमी अनुभव न होती थी। यह खेद की बात है कि अब इस आश्रम की प्रणाली लुप्त प्राय ही गई है। जो लोग अपने को वैदिक धर्मी कहते हैं उनमें से बहुतेरे जीवनान्त तक वकालत व्यापारादि में ही लगे रहकर धन की तृष्णा और सांसारिक मोह पाश में फंसे रहते हैं। इस का परिणाम यह हो रहा है कि गुरुकुल, अनाथालय, गोशाला इत्यादि सार्वजनिक संस्थाओं के लिये योग्य सदाचारी संयमी और त्यागी कार्यकर्त्ताओं की कमी सर्वत्र दिखाई देती है जिसके कारण ये संस्थाएं अपने उच्च उद्देश्यों की पूर्त्ति में समर्थ नहीं होतीं। कई बार ऐसे स्वार्थी और असंयमी लोग इन संस्थाओं में घुस आते हैं जो सारे पवित्र वायु मण्डल को बिगाड़ देते हैं। यह आश्चर्य की बात है कि अपने अन्दर धन कमाने तथा अन्य लौकिक धन्धे करने की शक्ति न रखते हुए भी लोग घरों में भार भूत होकर सारी उमर अशान्ति में बिता देते हैं, किन्तु प्राचीन आदर्श प्रणाली के अनुसार शान्ति से जनता की सेवा करना अपना कर्तव्य नहीं समझते।

सन्यासाश्रम

अन्तिम आश्रम जिसमें प्रवेश का अवसर, केवल (गुण कर्म-स्वभाव से) ब्राह्मणों को ही दिया जाता था सन्यासाश्रम के नाम से कहा जाता था। इसमें प्रवेश के समय प्रत्येक व्यक्ति को प्रतिज्ञा और घोषणा करनी होती थी कि—

'पुत्रैषणा वित्तैषणा लोकैषणा मया परित्यक्ता मत्तः सर्वे भूतेभ्योऽभयमस्तु स्वाहा'।

अर्थात् आज से मैंने पुत्र विषयक, धन विषयक और लोक विषयक (प्रशंसा वा कीर्ति की प्राप्त्यर्थं आतुरता) कामना का सर्वथा परित्याग कर दिया है। मेरे द्वारा सब प्राणियों को निर्भयता प्राप्त होवे। मैं सब प्रकार के स्वार्थ का परित्याग करता हूं।

इस प्रकार का पवित्र व्रत लेकर सन्यासी लोग निस्स्वार्थ भाव से केवल लोकोपकारार्थ देश देशान्तरों में जाकर धर्म प्रचार किया करते थे। स्वयं ब्रह्मज्ञानी और सर्वथा शान्त होते हुए वे अशान्त, भटकते हुए लोगों के अज्ञानान्धकार को दूर करते हुए उनके हृदयों को ज्ञान दीप्ति से देदीप्यमान किया करते थे। गृहस्थ के अनुभव के कारण उनके अन्दर सच्चा प्रेम और वानप्रस्थ के अनुभव के कारण सच्ची शान्ति का वास होता था जिससे वे सर्वत्र विशुद्ध प्रेम और शान्ति का साम्राज्य स्थापित करने में समर्थ होते थे। राजा महाराजाओं के दोषों को वे निर्भय होकर कह सकते थे। वर्तमान युग में श्री शङ्कराचार्य, श्री रामानुजाचार्य, श्री माध्वाचार्य, यतिवर्य ऋषि दयानन्द और स्वा० श्रद्धानन्द जी इत्यादि ने सन्यासियों के प्राचीन आदर्श को क्रियात्मकरूप देकर भारत माता का मुख उज्ज्वल किया है। योग्य ब्राह्मण (गुण कर्मानुसार) यदि सन्यासाश्रम में प्रवेश की प्रणाली को फिर से प्रचलित करदें तो धर्म प्रचार, शुद्धि, दलितोद्धारादि कार्य अब की अपेक्षा सौगुने वेग से होने लग जाएं इसमें कोई सन्देह नहीं। इस प्रकार इस आश्रम व्यवस्था के प्रचलित होने से मनुष्य मात्र का जो कल्याण हो सकता है उसका हमने संक्षेप से निरूपण किया है। वेदानुयायी सब सज्जनों को इसे अवश्य ही क्रियात्मक रूप देना चाहिये।

तृतीय अध्याय

वर्णव्यवस्थापर ऐतिहासिक दृष्टि से कुछ विचार

२ य अध्याय में भारतीय समाज-शास्त्र की आधार शिला--वर्णाश्रम व्यवस्था पर धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से कुछ विचार किया गया है अब प्राचीन इतिहास के आधार पर हमें वर्ण व्यवस्था के गुण, दोष पर थोड़ा विचार करना है। कई सज्जनों का यह भी मत है कि वर्ण व्यवस्था कभी प्रचलित नहीं रही, यह केवल शास्त्रकारों की कल्पना के अन्दर थी इसे कभी क्रियात्मक रूप नहीं दिया गया इत्यादि। इस विचार की भी यहां संक्षिप्त आलोचना की जायगी।

भारतीय ऐतिहासिक ग्रन्थों में वाल्मीकि रामायण और महाभारत का स्थान सब से ऊंचा है। वाल्मीकि मुनि ने अयोध्या की धार्मिक आर्थिक और सामाजिक अवस्था का जो चित्र रामायण में खींचा है वह बार२ देखने योग्य है। उसमें से कुछ श्लोकों को नीचे उद्धृत किया जाता है जो अयोध्या की आश्चर्य जनक उन्नति और उसके कारणों पर प्रकाश डालने वाले हैं।

बाल काण्ड सर्ग ६ में अयोध्या वासियों की नैतिक अवस्था का वाल्मीकि यों वर्णन करते हैं।

> कामी वा न कदर्यो वा, नृशंसः पुरुषः क्वचित्।
> द्रष्टुं शक्यमयोध्यायां, नाविद्वान्न च नास्तिकः॥ ८॥
> सर्वे नराश्च नार्यश्च, धर्म शीलाः सुसंयताः।
> मुदिताः शील वृत्ताभ्यां, महर्षय इवामलाः॥ ९॥

अर्थात् सारी अयोध्या में एक भी कामी, कंजूस, क्रूर, अशिक्षित और नास्तिक पुरुष नहीं दिखाई देता था। सब के सब स्त्री पुरुष धार्मिक संयमी सदाचारी प्रसन्न और निर्मल थे।

नानाहिताग्निर्नायज्वा, न क्षुद्रो वा न तस्करः।
कश्चिदासीदयोध्यायां, न चावृत्तो न संकरः॥ १२

अर्थात् कोई गृहस्थ अग्निहोत्रादि नियमों का पालन न करने वाला, कमीना, चोर, दुराचारी और व्यभिचारोत्पन्न अयोध्या नगरी के अन्दर न था।

सर्ग ८ में वाल्मीकि मुनि फिर कहते हैं।

शुचीनामेक बुद्धीनां, सर्वेषां संप्रजानताम्।
नासीत्पुरे वा राष्ट्रे वा, मृषावादी नरः क्वचित्॥ १४॥
कश्चिन्न दुष्टस्तत्रासीत् परदाररतिर्नरः।
प्रशान्तं सर्वमेवासीद् राष्ट्रं पुरवरं च तत्॥ १५॥

अर्थात् सब अयोध्यावासी ज्ञान सम्पन्न पवित्र और मिल कर विचार करने वाले थे। उस सारे अयोध्या नगर में ही नहीं, सारे राष्ट्र में भी कहीं कोई असत्य वादी पुरुष नहीं था। कहीं दुष्ट और व्यभिचारी, पर-स्त्री सङ्ग करने वाले पुरुष का चिन्ह तक वहां दिखाई न देता था। इस प्रकार वह अयोध्या का नगर और सारा राष्ट्र अत्यन्त शान्ति से युक्त था।

इस ऊपर उद्धृत किये हुए वर्णन में थोड़ी बहुत अत्युक्ति को मान भी लिया जाए तो भी यह स्वीकार करना ही पड़ेगा कि उस समय की नैतिक अवस्था (Moral condition) आज कल के सभ्य से सभ्य देश की अवस्था से भी सैकड़ों गुणा अच्छी थी। वाल्मीकि मुनि कहते हैं कि अयोध्या नगर और दशरथ के सारे राष्ट्र में एक भी अनपढ़, चोर, दुराचारी और झूठा आदमी नहीं था। क्या आज कोई भी उन्नत से उन्नत

सभ्यताभिमानी देश है जो यह दावा कर सके कि उसके निवासियों में ३० प्रति शतक भी ऐसे लोग हैं जो पूर्ण सदाचारी हैं और जो कभी असत्य भाषण नहीं करते। आज कल तो अवस्था ठीक उलटी है। जिन देशों को अर्ध जङ्गली या असभ्य कहा जाता है वहां सभ्य कहाने वाले देशों की अपेक्षा अधिक सदाचार पाया जाता है। अफ्रीका के हबशी और अमेरिका के जङ्गली नीग्रो लोग सुशिक्षित सभ्य यूरोप और अमेरिका निवासियों की अपेक्षा अधिक सदाचारी तथा संयमी हैं इस बात को एडवर्ड कार्पेन्टर, रसेल वैलेस तथा अन्य अनेक धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों ने स्पष्ट स्वीकार किया है। अस्तु।

इस नैतिक दशा की श्रेष्टता को स्वीकार करते हुए भी कहा जा सकता है कि भारत वासी शुरू से ही कुछ धार्मिक-वृत्ति वाले होने के कारण पारमार्थिक अथवा आध्यात्मिक उन्नति की ओर ध्यान देते रहे हैं पर सामाजिक और आर्थिक उन्नति के लिये उन्होंने कभी यत्न नहीं किया। प्राकृत उन्नति की वे सदा से उपेक्षा करते रहे हैं इत्यादि जिन सज्जनों का ऐसा विचार है उन्हें वाल्मीकि रामायण बाल काण्ड के ५वें अध्याय में अयोध्या की प्राकृत उन्नति और ऐश्वर्य का जो चित्र खींचा गया है उसे निष्पक्षपात दृष्टि से देखना चाहिये। वहां कहा है कि *अयोध्यापुरी लम्बाई में १२ योजन (४८ मील) और चौड़ाई में ३ योजन (१२ मील) थी। राज मार्ग पर प्रति दिन जल सिञ्चन किया जाता था। उसके अन्दर मकानों में सब तरह के रत्न जड़े हुए थे। स्थान २ पर विमान गृह बने हुए थे।

सर्व रत्न समा कीर्णा, विमान गृह शोभिताम्॥

---

* आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा, सुविभक्त महापथा॥ ५। ७॥

लोगों की शारीरिक उन्नति का निर्देश करते हुए लिखा है कि ॐ जो बाहु बल अथवा शस्त्रों द्वारा बड़े २ जंगलों में दहाड़ने वाले मस्त सिंहों व्याघ्रों और सुअरों को मार डालें ऐसे हज़ारों वीर उस एक ही नगरी के अन्दर विद्यमान थे।

आर्थिक अवस्था का वर्णन करते हुए वाल्मीकि मुनि कहते हैं कि कोई भी कुटुम्बी वहां ऐसा न था जिसके पास पर्याप्त गाय घोड़े और धन धान्य न हों। कोई ऐसा गृहस्थी न था जिसके पास कुण्डल मुकुट उत्तम माला तथा अन्य उचित भोगैश्वर्य सामग्री न हो। साधारण मज़दूर को भी उस समय दैनिक निष्क नामक सुवर्ण मुद्रा वेतन रूप में दी जाती थी जो आज कल के हिसाब में कम से कम ७॥) के बराबर होगी ऐसा ऐतिहासिकों ने बताया है। इतने उदाहरणों से रामायण काल की आर्थिक अवस्था का अच्छी तरह अनुमान किया जा सकता है। स्वाभाविक तौर पर यह जिज्ञासा उत्पन्न होती है कि इतनी आश्चर्य-जनक उन्नत अवस्था का प्रधान कारण क्या था? इस जिज्ञासा को शान्त करने के लिये हमें अपनी तर्क शक्ति को काम में लाने की कोई आवश्यकता नहीं। इसका उत्तर वाल्मीकि मुनि ने स्वयं ही निम्नलिखित श्लोकों के द्वारा दे दिया है।

स्वकर्म निरता नित्यं, ब्राह्मणा विजितेन्द्रियाः।
दानाध्ययन शीलाश्च, संयताश्च परिग्रहे॥
नास्तिको नानृती वापि, न कश्चिदबहु श्रुतः।
नासूयको न चाशक्तो नाविद्वान् विद्यते क्वचित्॥

ॐ सिंहव्याघ्र वराहाणां, मत्तानां नदतां वने।
हन्तारो निशितैः शस्त्रैर्बलाद् बाहुबलादपि।
तादृशानां सहस्रैस्तामभिपूर्णां महारथैः॥ ५। २१॥

इन श्लोकों में बताया है कि अयोध्या के सब ब्राह्मण जितेन्द्रिय होकर अपने कर्तव्यों के पालन में तत्पर थे। दान देने और स्वाध्याय में प्रवृत्त होकर वे दान ग्रहण करने में बड़े संयम से काम लेते थे। बिना विवेक के वे हर किसी का दान स्वीकार न करते थे। उन में कोई भी नास्तिक झूठा, दूसरों की व्यर्थ निन्दा करने वाला, अशिक्षित असमर्थ और अबहुश्रुत अर्थात् जिसने बहुत कुछ शास्त्र श्रवण नहीं किया ऐसा पुरुष कहीं नहीं था। क्यों कि ब्राह्मण अपने कर्तव्यों के पालन में इतनी तत्परता दिखाते थे इसी लिये दूसरे वर्णों के पुरुष भी वैसे ही कर्तव्य परायण थे इस विषय में वाल्मीकि मुनि कहते हैं

क्षत्रं ब्रह्ममुखं चासीद्, वैश्याः क्षत्रमनुव्रताः।
शूद्राः स्वकर्मनिरतास्त्रीन् वर्णानुपचारिणः॥

बाल काण्ड सर्ग ६।१९॥

अर्थात क्षत्रियों के मुख मानो ब्राह्मण थे। क्षत्रिय ब्राह्मणों की आज्ञानुसार काम करने वाले थे। क्षत्रियों के पीछे २ वैश्य अपने कर्तव्य का पालन करते थे। शूद्र भी तीनों वर्णों की सेवा करके अपने कर्तव्य में तत्पर थे। इस तरह स्वयं वाल्मीकि मुनि के ही लेख से वैदिक वर्ण व्यवस्था प्रचलित होने के कारण अयोध्या तथा सम्पूर्ण राष्ट्र की इतनी ऊंची अवस्था थी यह बात साफ़ सिद्ध होता है। वसिष्ठ जैसे स्वार्थ रहित चीर वल्कल धारी मुनि जब प्रधानामात्य वा Prime minister का काम करते हों, फल मूल खाकर निर्वाह करने वाले तपस्वी वसिष्ठ जैसे सच्चे ब्राह्मणों के हाथों में जब न्याय करने और क़ानून बनाने के अधिकार हों तो क्यों न देश की ऐसी उन्नत अवस्था होवे।

दूसरा ऐतिहासिक उदाहरण जिस की ओर हम यहां ध्यान आकर्षित करना चाहते हैं वह केकय देश का है। छान्दोग्य उपनिषत् के ५ वें

अध्याय के ११ वें खण्ड में कथा आती है कि प्राचीन काल में सत्य, यज्ञ इन्द्रद्युम्न इत्यादि मुनि मिल कर केकय देश के राजा अश्वपति के यहां आये। तब अश्वपति ने अपने देश की अवस्था का वर्णन करते हुए कहा—

न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्यो न मद्यपो।
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुतः॥

अर्थात् मेरे सारे जनपद—राष्ट्र में एक भी चोर, कंजूस, शराब पीने वाला, अग्निहोत्र न करने वाला, अशिक्षित और व्यभिचारी पुरुष नहीं है तब व्यभचारिणी स्त्री कैसे हो सकती है? क्या आज भी कोई ऐसा राजा है जो छाती पर हाथ रख कर महात्माओं के सामने इस तरह की घोषणा कर सके? उपनिषत् के अन्दर केवल इतना ही वृत्तान्त दिया है। महाभारत शान्ति पर्व अ० ७७ के अन्दर इसका विस्तार पाया जाता है जहां अलङ्कार रूप से बताया है कि एक बार एक राक्षस की आत्मा केकय देश के राजा अश्वपति के अंन्दर प्रवेश करने लगी तब राजा ने अपने राष्ट्र की उन्नत अवस्था का चित्र खींचते हुए उसे कहा कि जब मैं स्वयं धर्म का पालन करता हुआ सब वर्णों के लोगों से धर्म का पालन कराता हूं तो तू मेरे अन्दर क्यों प्रवेश करती है। मेरे अन्दर घुसने की तेरे में ताक़त भी नहीं है, मुझे तेरे जैसे राक्षसों से कोई भय नहीं है। यह सारा प्रकरण बड़ा ही मनोरञ्जक और शिक्षा प्रद है. अतः इसमें से कुछ आवश्यक, वर्ण व्यवस्था पर प्रकाश डालने वाले श्लोकों को यहां उद्धृत किया जाता है।

अपने देश के ब्राह्मणों के विषय में अश्व पति राजा कहता है।

नचमे ब्राह्मणोऽविद्वान्, नाव्रती नाप्यसोमपः॥
अध्यापयन्त्यधीयन्ते, यजन्ते याजयन्ति च।
ददति प्रतिगृह्णन्ति, षट्सुकर्मस्ववस्थिताः॥ ११॥
पूजिताः संविभक्ताश्च, मृदवः सत्य वादिनः।
ब्राह्मणा मे स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविशः॥ १२॥

अर्थात् मेरे राष्ट्र के ब्राह्मणों में से एक भी अशिक्षित, व्रत रहित और यज्ञ में सोमादि उत्तम रस पान न करने वाला नहीं। मेरे देश के सब ब्राह्मण अध्ययन करते कराते, यज्ञ करते कराते, दान देते और धर्मानुसार लेते हैं इस तरह वे अपने छः कर्तव्यों का पालन करते हैं, उनकी सब कोई पूजा करते हैं, वे स्वयं कोमल स्वभाव के सत्यवादी और कर्तव्य परायण हैं इस लिये ऐ राक्षस! तू मेरे अन्दर प्रवेश न कर। क्षत्रियों के विषय में राजा अश्व पति कहता है कि वे कभी भिक्षा नहीं मांगते पर दान करते हैं, वे यज्ञ करते हैं पर कराते नहीं, वे स्वयं वेदादि पढ़ते हैं पर पढ़ाते नहीं वे सत्य और धर्म में निपुण हैं। वे ब्राह्मणों की सदा रक्षा करते हैं, संग्रामों में कभी पीठ नहीं दिखाते। इस तरह जब मेरे सब क्षत्रिय कर्तव्य परायण हैं तो तू मेरे अन्दर प्रवेश न कर। * वैश्यों के विषय में राजा बतलाता है कि—

> कृषि गोरक्ष वाणिज्यमुपजीवन्त्यमायया।
> अप्रमत्ताः क्रियावन्तः, सुव्रत्ताः सत्यवादिनः॥
> संविभागं दमं शौचं, सौहृदं च व्यपाश्रिताः।
> मम वैश्याः स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविशः॥

अर्थात् मेरे देश के सब वैश्य कृषि, गाय इत्यादि पशुओं की रक्षा और व्यापार के द्वारा विना छल के अपनी आजीविका करते हैं, वे आलस्य प्रमाद रहित, लगातार काम करने वाले, सदाचारी और सत्यवादी हैं। समान विभाग, संयम, पवित्रता और मित्रता को धारण करते हुए मेरे वैश्य अपने कर्म करने में तत्पर हैं ऐ राक्षस तू मेरे अन्दर मत प्रवेश कर।

---

* ब्राह्मणान् परिरक्षन्ति, संग्रामेष्वपलायिनः।
क्षत्रिया मे स्वकर्मस्था मा ममान्तरमाविशः॥
शा० प० अ० ७७। १४॥

अपने देश के शूद्रों के विषय में राजा ने बतलाया कि वे ईर्ष्या द्वेष रहित होकर तीनों वर्णों की सेवा करते और इस तरह अपने कर्त्तव्य का पालन करते हैं। तू मेरे अन्दर मत घुस। आगे राजा अपने बारे में कहता है कि मैं कृपण अनाथ वृद्ध दुर्बल दुःखी स्त्रियां, सबकी धनादि द्वारा रक्षा करने वाला हूं तू मेरे अन्दर मत घुस। अन्त में अत्यन्त निर्भयता पूर्वक राजा अश्वपति उच्च स्वर से कहता है।

न मे राष्ट्रे विधवा ब्रह्मबन्धुर्न ब्राह्मणः कितवो नोत चोरः।
नायाज्ययाजी न च पाप कर्मा, न मे भयं विद्यते राक्षसेभ्यः॥२८॥

अर्थात् मेरे राष्ट्र में कोई विधवा नहीं, कोई ब्राह्मण कुल में पैदा होकर नीच कार्य करने वाला नहीं, कोई जुआरी और चोर नहीं। कोई पाप युक्त कर्म करने वाला नहीं इसलिये मुझे राक्षसों से ज़रा भी डर नहीं। राजा की इस साहस युक्त निर्भयता सूचक उक्ति को सुनकर राक्षस उसे छोड़कर चला जाता है और कहता है।

ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्या यत्र शूद्राश्च धार्मिकाः।
नानावृष्टिभयं तत्र, न दुर्भिक्षं न विभ्रमः॥

अर्थात् जहां ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र सब धार्मिक हों वहां अवृष्टि अकाल इत्यादि का भय नहीं हो सकता वहां अज्ञान और उपद्रव नहीं हो सकता।

पूर्ववत् इस ऐतिहासिक उदाहरण से भी यह बात सिद्ध हुई कि वर्ण व्यवस्था केवल धर्म शास्त्रकारों की कल्पना में ही न थी बल्कि उसे कार्य रूप में परिणत भी किया गया था।

द्वितीय अध्याय में बताया जा चुका है कि वर्ण व्यवस्था के अनुसार ज्ञान और धर्म के कोश का अध्यक्ष और रक्षक ब्राह्मण होता है। प्राचीन समय में जब कि यह व्यवस्था प्रचलित थी तो यहीं के ब्राह्मण सारे संसार

भर के गुरु हुआ करते थे। मनु० अ० २। २० में ब्रह्मर्षि देश के विषय में लिखा है कि पृथिवी के सब मनुष्य यहां के ब्राह्मणों के समीप आकर अपने २ चरित्र की शिक्षा ग्रहण करें। * इसी मनु की घोषणा और आदेश के अनुसार हमें प्राचीन इतिहास के देखने से पता लगता है कि मिश्र, यूनान इत्यादि देशों से बहुत से सज्जन विद्या ग्रहण के लिये इस पवित्र भूमि में आया करते थे और यहां के ब्राह्मण लोग ज्ञान प्रचार तथा धर्मोपदेश के लिये दूसरे दूर २ देशों में जाया करते थे। इस स्थापना की पुष्टि के लिये महाभारत तथा पुराणों से अनेक प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं। महाभारत शान्ति पर्वान्तर्गत मोक्षधर्म पर्व अ० ३२५ में वेद व्यास के, पाताल में जिसे आजकल अमेरिका कहते हैं जाकर कुछ समय निवास करने का उल्लेख है। भविष्य-पुराण आदि में अनेक ऋषि मुनियों के इस प्रकार दूर २ देशों में जाने का वर्णन है जिन में कण्व और कश्यप इन दो मुनियों का नाम विशेष तौर पर उल्लेख के योग्य है।

भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व ३। ४ २० में कश्यप मुनि के कार्य के विषय में ऐसा वर्णन आया है।

मिश्रदेशोद्भवा म्लेच्छाः काश्यपेनैव शासिताः।
संस्कृताः शूद्रवर्णेन ब्रह्मवर्णमुपागताः॥
शिखासूत्रं समाधाय, पठित्वा वेदमुत्तमम्।
यज्ञैश्च पूजयामासुर्देवदेवं शचीपतिम्॥

इन श्लोकों का अर्थ यह है कि काश्यप मुनि ने मिश्र देश में जिसे अब Egypt के नाम से कहते हैं जाकर वहां के म्लेच्छों को शिक्षा दी फिर

* एतद्देशप्रसूतस्य, सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन्, पृथिव्यां सर्वमानवाः॥
मनु०.२.।.२०.॥

उनका संस्कार (शुद्धि) कराया, संस्कार कराकर उन्हें अपनी २ योग्यता के अनुसार शूद्र से लेकर ब्राह्मण तक वर्ण दिये। शिखा और यज्ञोपवीत (चोटी, जनेऊ) धारण करके, उत्तम वेद को पढ़कर वे लोग यज्ञों के द्वारा भगवान् की पूजा करने लगे। इसका जहां आगे विस्तार है उससे पता लगता है कि इन म्लेच्छों की संख्या जिन्हें काश्यप ने जाकर शुद्ध किया और सार्वभौम वैदिक धर्म की पवित्र छाया में फिर से लाया १० हज़ार के करीब थी। एक ऐसा ही उल्लेख भविष्य पुराण प्रतिसर्ग पर्व ख० ४ अ० २१ में कण्व मुनि के विषय में आया है जहां लिखा है कि सरस्वती देवी की (जो उस समय की किसी प्रसिद्ध विदुषी देवी का नाम मालूम होता है) आज्ञा से कण्व मुनि मिश्र देश में गया वहां १० हज़ार म्लेच्छों को उसने संस्कृत पढ़ाई और उनको शूद्र, वैश्य, क्षत्रिय, ब्राह्मण आदि चारों वर्णों में क्रमशः उनकी योग्यतानुसार सम्मिलित किया। एक हज़ार उन म्लेच्छों की संख्या वहां बताई गई है जिन्हें ब्राह्मण पदवी दी गई। इस विषय में लिखा है—

> सरस्वत्याज्ञया कण्वो मिश्रदेशमुपाययौ।
> म्लेच्छान् संस्कृतमाभाष्य, तदा दशसहस्रकान्॥
> वशीकृत्य स्वयं प्राप्तो ब्रह्मावर्ते महोत्तमे॥
> सपत्नीकांश्च तान् म्लेच्छान्, शूद्रवर्णाय चाकरोत्।
> द्विसहस्रास्तदा तेषां मध्ये वैश्या बभूविरे॥

इत्यादि श्लोक देखने योग्य हैं। यह घटना कब की है यह जानने को हमारे पास पर्याप्त सामग्री विद्यमान नहीं। सम्भवतः यह महाभारत के एक दो हज़ार वर्ष पीछे की ही घटना है क्योंकि जहां तक हमें स्मरण है महाभारत में इस अत्यावश्यक घटना का कोई उल्लेख नहीं। ये म्लेच्छ लोग कौन हैं जिनका प्राचीन संस्कृत साहित्य में स्थान २ पर उल्लेख है यह भी भारतीय समाज-शास्त्र के विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त आवश्यक

प्रश्न है। इस म्लेच्छ शब्द का लक्षण करते हुए शुक्राचार्य ने अपने नीति सार में कहा है।

त्यक्तस्वधर्माचरणा निर्घृणाः परपीडकाः।
चण्डाश्च हिंसका नित्यं, म्लेच्छास्ते ह्यविवेकिनः॥
शु० नी० १। ४४॥

अर्थात् "म्लेच्छ वे हैं जिन्होंने अपने धर्म का परित्याग कर दिया है, जो दयारहित दूसरों को पीड़ा देने वाले क्रूर हिंसक और विचार रहित हैं"। शुक्राचार्य के इस लक्षण से ज्ञात होता है कि उनके अनुसार म्लेच्छ नाम की कोई पृथक् जाति नहीं, बल्कि जो कोई भी पुरुष धर्म दया विवेक सदाचारादि रहित हैं वे सब म्लेच्छ कहाते हैं चाहे वे किसी भी कुल और देश में पैदा हुए हों।

द्वितीय अध्याय में हमने शुक्र नीति से।

न जात्या ब्राह्मणश्चात्र, क्षत्रियो वैश्य एव न।
न शूद्रो न च वै म्लेच्छो, भेदिता गुणकर्मभिः॥ १। ६८

यह श्लोक उद्धृत किया था उसमें भी साफ़ बतलाया है कि 'जन्म से कोई म्लेच्छ नहीं किन्तु यह सारा भेद गुण कर्म के ऊपर है'। इसी की पुष्टि महाभारत शान्ति पर्व अ० १८८। १७-१८ से भी होती है जहां यह कहा है कि—

ब्रह्म चैतत्पुरा सृष्टं ये तु जानन्ति न द्विजाः।
तेषां बहुविधास्त्वन्यास्तत्रतत्र हि जातयः॥
पिशाचा राक्षसाः प्रेता विविधा म्लेच्छजातयः।
प्रणष्टज्ञानविज्ञानाः, स्वच्छन्दाहारचेष्टिताः॥

अर्थात् जो पुरुष ब्राह्मण कुल के अन्दर उत्पन्न होकर भी वेद को नहीं जानते उनका ज्ञान विज्ञान सब नष्ट हो जाता है। उनका आहार

तथा अन्य चेष्टाएं उच्छृङ्खल हो जाती हैं और वही धीरे २ पिशाच, राक्षस, प्रेत और म्लेच्छ जातियों के नाम से पुकारे जाने लगते हैं। इस तरह के प्रमाणों से यह स्पष्ट ज्ञात होता है कि म्लेच्छ, दस्यु इत्यादि शब्द प्रारम्भ में विशेष जाति सूचक न थे, पर व्रतहीन, नीच लोगों के लिये उन शब्दों का प्रयोग होता था। धीरे २ ब्राह्मण, क्षत्रियादि शब्दों की तरह वे भी भिन्न २ जातियों के वाचक शब्द माने जाने लगे। म्लेच्छों की उत्पत्ति का जो वर्णन विष्णुपुराण अंश ४ अ० ३ में दिया है वह भी अत्यन्त मनोरंजक है। उसके अनुसार हैहय, तालजंघ, यवन, शकादि क्षत्रिय जाति के लोगों को धर्म और द्विजों के सङ्ग का परित्याग कराकर म्लेच्छ बना दिया गया। "ते च (क्षत्रियाः) आत्मधर्मपरित्यागाद् ब्राह्मणैश्च परित्यक्ता म्लेच्छतां ययुः ॥" ये शब्द वहां आते हैं। स्वयं मनुस्मृति में भी—

> शनकैस्तु क्रियालोपादिमाः क्षत्रियजातयः ।
> वृषलत्वं गता लोके ब्राह्मणादर्शनेन च ॥
>
> म० स्मृ० १० । ४३ ॥

यह कह कर, पौण्ड्रक, चौड्र, द्रविड़, काम्बोज, यवन, शक, पारद, पह्लव, चीन, किरात, दरद, खश इन जातियों का श्लो० ४४ में उल्लेख किया गया है, जिससे पता लगता है कि ये जातियां धीरे २ अपने वैदिक क्रियाकलाप को छोड़ने और ब्राह्मणों के संसर्ग न होने से पतित हो गईं और म्लेच्छ दस्यु इत्यादि नामों से कही जाने लगीं। दस्यु शब्द के विषय में भी यही बात कही जा सकती है। वेद में सारी मनुष्य जाति का आर्य और दस्यु इन दो वर्गों के अन्दर विभाग "विजानीह्यार्यान् ये च दस्यवो बर्हिष्मते रन्धया शासदव्रतान्।" ऋ० १ । ५१ । ८ ॥ इत्यादि मन्त्रों द्वारा किया गया है। आर्य शब्द श्रेष्ठ और दस्यु 'अव्रत' अर्थात् सदाचार रहित नीच पुरुष का

वाचक है चाहे वह किसी भी देश और जाति का हो। दस्यु के लिये प्रायः 'अयज्वा' अथवा 'असुन्वन्' यह विशेषण प्रयोग में आये हैं जिसके अन्दर यज्ञादि शुभ कर्म न करने या दान न देने का भाव है। दस्युओं को भी आर्य बनाने का यत्न करना चाहिये।

'इन्द्रं वर्धन्तो अप्तुरः कृण्वन्तो विश्वमार्यम्।
अप घ्नन्तो अराव्णः॥" ऋ० ९।६३।५॥

यह वेद का स्पष्ट आदेश है जिसके अनुसार चलते हुए हमारे पूर्वज आर्यों ने लाखों म्लेच्छों और दस्युओं को आर्य धर्म की दीक्षा दी थी। महाभारत शान्ति पर्वान्तर्गत राजधर्म पर्व अ० ७२ श्लो० ४८ में "अपध्वस्ता दस्युभूता भवन्ति, ये ब्राह्मणान् क्षत्रियाः सन्त्यजन्ति॥" ऐसा कहा है, उससे भी यही बात प्रमाणित होती है कि पतित, क्रूर प्रकृति के लोगों को ही दस्यु नाम से पुकारा जाता है। इस नाम की पृथक् कोई जाति थी इस कल्पना के लिये कोई प्रबल प्रमाण नहीं। इस विषय में प्रो० विनय कुमार सरकार एम० ए० की "The Positive Backgrounds of Hindu Socia-logy" नामक पुस्तक में उद्धृत प्रिन्सिपल पी० टी० श्री निवास आयङ्गर के निम्न लिखित दो चार वाक्यों की ओर ध्यान आकर्षित कर देना अप्रासङ्गिक न होगा।

"The Aryas and Dasyus or Dasas are referred to, not as indicating different races,....The words refer not to race but to cult...............The Dasyus are without rites, fireless, non-sacrificers, without prayers, without risks, haters of prayer........... Thus the difference between Aryas and Dasyus was not one of race but of cult." (P. 54)

इस प्रकार प्राचीन इतिहास की ओर सरसरी नज़र दौड़ाने से हमें मालूम होता है कि वर्ण व्यवस्था के प्रचलित होने के कारण प्राचीन आर्य उन्नति के शिखर पर पहुंचे हुए थे। जब धीरे २ ब्राह्मणों ने अपने कर्तव्य के पालन में प्रमाद करना शुरू किया, दूर २ देशों में पवित्र ज्ञान के सन्देश को देना बन्द कर दिया तब से म्लेच्छ और दस्युओं की उत्पत्ति होती गई। अब इस विषय के कुछ प्रमाण प्रस्तुत करते हैं कि प्राचीन समय में वस्तुतः गुण कर्म स्वभाव पर वर्ण व्यवस्था का आधार माना जाता था और इस लिये वर्ण परिवर्तन होता था। यह सब केवल सिद्धान्त रूप में ही न था। वर्ण परिवर्तन के ऐतिहासिक उदाहरण महाभारत तथा पुराणों में अनेक स्थलों पर उद्धृत किये गये हैं उनमें से कुछएक का ही यहां उल्लेख किया जाएगा ताकि बहुत अधिक विस्तार न हो जाए।

(१) महाभारत वनपर्व ४।१९।१० में लिखा है कि क्षत्रियवंशी महावीर का उरुक्षय नामी पुत्र हुआ। उसके त्र्यारुण, पुष्करी और कपि ये तीन पुत्र थे। ये तीनों पीछे से ब्राह्मण बन गये। *

(२) महाभारत शल्य पर्व ४।३६–३७ में लिखा है कि अरिष्टपेण नामक क्षत्रिय कुलोत्पन्न बड़े तप के प्रभाव से ब्राह्मण पदवी को प्राप्त हुआ। इसी प्रकार सिन्धुद्वीप, देवापि तथा विश्वामित्र ये सब तप इत्यादि के कारण ब्राह्मण पदवी तक पहुंच गये। †

(३) आदि पर्व १३९।१४ में भी कहा है कि—

क्षत्रियेभ्यश्च ये जाता ब्राह्मणास्ते च विश्रुताः।
विश्वामित्रप्रभृतयः प्राप्ता ब्रह्मत्वमुत्तमम्॥

---

* उरुक्षयस्य पुत्रत्रयमभूत् तच्च त्रितयमपि पश्चाद् विप्रतामुपजगाम।
व० प० ४। १९। १०॥

† सिन्धुद्वीपश्च राजर्षिर्देवापिश्च महातपाः।
ब्राह्मण्यं लब्धवानत्र विश्वामित्रस्तथा मुनिः॥

यहां भी स्पष्ट बताया गया है कि विश्वामित्रादि अनेक क्षत्रिय कुलोत्पन्न, ब्राह्मण वर्ण को प्राप्त हुए।

पुराणों में भी इन वर्ण परिवर्तनों का स्थान २ पर उल्लेख है। भविष्यपुराण अ० ४३ में कहा है कि व्यासमुनि एक कैवर्त (मल्लाह) की लड़की के पुत्र थे। व्यास के पिता पराशरमुनि एक श्वपाकी अर्थात् चाण्डालिनी से उत्पन्न हुए थे। ऋष्यशृङ्ग पौराणिक प्रसिद्धि के अनुसार मृगी का पुत्र था। वसिष्ठ वेश्या के पुत्र थे। मुनिश्रेष्ठ मन्दपाल नौका चलाने वाली स्त्री के पुत्र थे। इसी प्रकार बहुत से अन्य भी ब्राह्मण बन गये जो पहले से द्विज न थे। सदाचार सम्पन्न शूद्रकुलोत्पन्न भी ब्राह्मण से अधिक हो जाता है और आचारहीन ब्राह्मण कुलोत्पन्न भी शूद्र से नीचा हो जाता है। * चण्डाली के गर्भ से उत्पन्न होने पर भी व्यास तब से ब्राह्मण हो गया। वेश्या का पुत्र होने पर भी वशिष्ठ ब्राह्मण बन गया यह उत्तम संस्कार का फल है। इत्यादि।

मार्कण्डेय ११२।२५ में लिखा है कि गुरु की गाय की हत्या के कारण पृषध्र शूद्र हो गया।

'पृषध्रस्तु गुरुगोवधाच्छूद्रतामगात्।'

विष्णुपुराण ४।१।१६ के अनुसार नेदिष्ट का पुत्र नाभाग क्षत्रिय कुलोत्पन्न होते हुए भी वैश्य बन गया। यही बात भागवत ९।२।२३ में

---

* शूद्रोऽपि शीलसम्पन्नो गुणवान् ब्राह्मणो भवेत्।
ब्राह्मणो विगताचारः शूद्राद्धीनतरो भवेत्॥
जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः, श्वपाक्याश्च पराशरः।
मृगिजोऽथर्ष्यशृङ्गोऽपि, वसिष्ठो गणिकात्मजः॥
मन्दपालो मुनिश्रेष्ठो नाविकापत्यमुच्यते।
बहवोऽन्येऽपि विप्रत्वं प्राप्ता ये पूर्वमद्विजाः॥

भी "नाभागोनेदिष्टपुत्रोऽन्यः. कर्मभिर्वैश्यतां गतः" इन शब्दों में बताई गई है। विष्णुपुराण के शब्द 'नाभागो नेदिष्टपुत्रस्तु वैश्यतामगमत्।' ये हैं।

वायु पुराण के लेखानुसार गृत्समद का पुत्र शुनक था जिसके कुल में कर्मभेद के कारण ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र चारों वर्गों के पुत्र उत्पन्न हुए। इसी प्रकार गृत्समति नामक दूसरे एक ब्राह्मण के ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य ये तीनों वर्णों के पुत्र हुए। इस विषय के श्लोक स्पष्ट हैं उनके अर्थ में ज़रा भी मत भेद नहीं हो सकता।

"पुत्रो गृत्समदस्यासीच्छुनको यस्य शौनकः।
ब्राह्मणाः क्षत्रियाश्चैव वैश्याः शूद्रास्तथैव च॥
एतस्य वंशसम्भूता विचित्राः कर्मभिर्द्विज।
तथा गृत्समतेः पुत्रा ब्राह्मणाः क्षत्रिया विशः॥

वायुपुराण उत्तरार्ध अ० ३ श्लो० ५॥

हरिवंश पुराण में अङ्गिरा के पुत्रों का इसी प्रकार ४ वर्णों में विभाग लिखा है। यथा—

एते ह्यङ्गिरसः पुत्रा जाता वंशेऽथ भार्गवे।
ब्राह्मणाः क्षत्रिया वैश्याः शूद्राश्च भरतर्षभ॥

अर्थात् एक ही भार्गव वंश में उत्पन्न होने पर भी अंगिरा मुनि के पुत्र चारों वर्णों में (कर्म भेद से) विभक्त हो गये। इन उदाहरणों के अतिरिक्त कवष ऐलूष, महिदास ऐतरेयादि के नाम यहां लिये जा सकते हैं जो शूद्रापुत्र होने पर भी सर्वोच्च ऋषि पदवी को प्राप्त हुए। इन उदाहरणों से हम जान सकते हैं कि यद्यपि प्राचीन समय में वर्णव्यवस्था राजाओं की अध्यक्षता में वा उनके निरीक्षण में प्रचलित रहने के कारण प्रायः ब्राह्मणादि वर्णों के वैसे ही पुत्र होते थे तथापि इस विषय में

समय २ पर अपवाद उपस्थित होते रहते थे और ऐसे अवसर आने पर ऋषि तथा ब्राह्मण लोग जातीय द्वेष या पक्षपात से काम न लेते हुए जो जिस वर्ण के योग्य होता था उसे वह वर्ण दे दिया करते थे चाहे उसका जन्म कितने भी नीच कुल में क्यों न हुआ हो। उस समय वर्ण का निश्चय, ऐसा मालूम होता है कि आचार्य लोग ब्रह्मचारियों के समावर्तन संस्कार के समय किया करते थे। मनुस्मृति २।१४८ का

आचार्यस्त्वस्य यां जातिं विधिवद् वेदपारगः।
उत्पादयति सावित्र्या सा सत्या साऽजराऽमरा॥

यह श्लोक इस कल्पना के लिये आधार कहा जा सकता है। यद्यपि कुल्लूक भट्टादि टीकाकारों ने जाति का अर्थ जन्म करते हुए यहां उपनयन का प्रतिपादन किया है। इस विषय में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ भी कहना अभी कठिन है। इतना तो अवश्य पता लगता है कि वर्णाश्रम का पालन कराना और व्यभिचारादि के कारण वर्णसंकर राष्ट्र में न पैदा होने देना यह राजाओं का काम था। 'नृपस्य वर्णाश्रमपालनं यत्, सएव धर्मो मनुना प्रणीतः' यह कह कर महाकवि कालिदास ने भी मनुस्मृत्यादि के आधार पर उपर्युक्त बात का समर्थन किया है। इस विषय में अधिक विस्तार करने की आवश्यकता नहीं।

महाभारत देखने से यह पता लगता है कि उस समय के लोग, कम से कम सब उच्च कोटि के विद्वान्, सिद्धान्त रूप में तो इसी गुण कर्मानुसार वर्णव्यवस्था को मानते थे पर क्रिया में प्रायः जातिभेदजन्य ऊंच नीच का भाव उनके अन्दर प्रवेश कर गया था। स्वयंवर के समय कर्ण के प्रति द्रौपदी के घृणासूचक वाक्य, भीम आदि के मुख से फिर उन्हीं शब्दों का बार २ निकलना, एकलव्य को द्रोणाचार्य का धनुर्विद्या न सिखाना केवल इसलिये कि वह उच्च, कुलीन न था। ये तथा अन्य अनेक ऐसे ही प्रमाण बताते हैं कि उस समय ऊंच नीच के भावों का बीजारो-

पण हो चुका था। महाभारत का ज़माना प्राकृतिक ऐश्वर्य तथा भोग सामग्री, शिल्पादि की दृष्टि से बहुत ही उन्नत था, किन्तु नैतिक सदाचारादि की दृष्टि से वह रामायण काल के आदर्श से बहुत नीचे गिर चुका था। सच्चे ब्राह्मणों की अधोगति और बहुत अंश तक अभाव ही इस शोचनीय अवस्था का प्रधान कारण कहा जा सकता है। जहां द्रोण कृपाचार्य जैसे चतुर्वेदवेत्ता ब्राह्मण भी द्यूत क्रीड़ा के विरुद्ध आवाज़ न उठा सकें और भीष्म विकर्णादि के सावधान करने और द्रौपदी की दीनता पूर्वक प्रार्थना करने पर भी उन्हें दुर्योधन दुःशासनादि के नीच कर्म का खुले तौर पर प्रतिवाद करने का साहस न हो, जहां उनको अपने ही मुख से—

अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्।
इति मत्वा महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥

इस तरह के धन की दासता के सूचक शब्द कहने में लज्जा न आवे वहां यदि सदाचार (morality) की दृष्टि से बड़े २ विद्वान् भी इतने पतित दिखाई दें तो कोई बड़े आश्चर्य की बात नहीं।

महाभारत के पश्चात् तो जो हमारे देश का पात प्रारम्भ हुआ उसकी कहीं समाप्ति ही नहीं हुई। जो ब्राह्मण किसी समय सारे संसार को सत्य मार्ग दिखाने वाले थे वे स्वयं अपने कर्तव्य पालन को सर्वथा छोड़कर कल्पित अधिकारों की रक्षा में तत्पर हो गये। दिमाग़ के बिगड़ने पर सारे शरीर की जो बुरी हालत हो जाती है वही हालत उस समय भारतीय समाज की हुई। लोग प्रायः पूछते हैं कि वर्तमान जातिभेद यदि शास्त्रोक्त नहीं है जैसा कि इस निबन्ध में तथा दूसरे अनेक ग्रन्थों में दिखाया गया है तो इसकी उत्पत्ति कैसे हुई। कुछ तो इसका आधार होना ही चाहिये। इसके उत्तर में इतना ही कथन पर्याप्त है कि प्राचीन काल में ब्राह्मण लोग प्रतिष्ठा और धन के भूखे न थे। वे समाज सेवा

करना अपना धर्म समझते थे और कर्तव्य के भाव से ही प्रेरित होकर आदर्श-मय एवं कठिन तपोमय जीवन गुज़ारते हुए पढ़ने पढ़ाने प्रचार करने इत्यादि कार्यों में तत्पर रहते थे इसीलिये उन्हें समाज में सब से ऊंचा दर्जा दिया जाता था, यहां तक कि सम्राट् को भी कौपीनधारी ब्राह्मणों के आने पर अपने राजसिंहासन से उठकर खड़े हो जाना पड़ता था। साथ ही क्योंकि प्रायः सब वर्णों के लोग अपने २ कर्तव्यों का पालन सावधानता से करते थे इसलिये वर्णपरिवर्तन केवल अपवाद के ही रूप में समझे जाते थे। पीछे से लोग कर्तव्यविमुख होने लगे। अधिकारसूचक शास्त्र वाक्यों पर उनकी नज़र गई। उन्होंने मन में सोचा कि कौन १५, २० वर्ष तक तपस्या करके ज्ञान सम्पादन करे, कौन वेदादि में इतना परिश्रम करे हमारे अधिकारों का प्रतिपादन करने वाले वाक्य तो सब धर्मग्रन्थों में लिखे हैं, बस उन्हीं से लाभ उठावें, क्षत्रियों वैश्यों शूद्रों को अन्धकार में रख कर हम ही पहले धर्म कृत्यों पर एकाधिकार जमालें तब हमारी दाल खूब अच्छी तरह गलेगी। यही सोच कर उन्होंने पहले तो स्त्रियों और शूद्रों को और फिर धीरे २ क्षत्रियों और वैश्यों को भी वेदाध्ययन के अधिकार से वञ्चित किया! स्वयं भी वेदों का शुकवत् पाठ करना और संस्कार कराकर यथेष्ट दक्षिणा और गौ भूमि आदि दान लेना उन्होंने अपना कर्तव्य रक्खा। ब्राह्मणों के जो इतने ऊंचे आदर्श शास्त्रों में लिखे थे उनके साथ २ मनुस्मृति आदि में—

> अविद्वांश्चापि विद्वांश्च, ब्राह्मणो दैवतं महत्।
> प्रणीतश्चाप्रणीतश्च, यथाग्निर्दैवतं महत्॥
> एवं यद्यप्यनिष्टेषु, वर्तन्ते सर्वकर्मसु।
> सर्वथा ब्राह्मणाः पूज्याः, परमं दैवतं हि तत्॥

वर्तमान मनुस्मृति अ० ९। ३१७-३१९॥

ऐसे श्लोक इन लोगों ने मिला दिये जिन का आशय यह था कि

ब्राह्मण कुल में जो पुरुष उत्पन्न हुआ है वह कितना भी दुराचारी और मूर्ख क्यों न हो वह परम देवता तुल्य पूजनीय है। इस तरह एक ओर तो लोगों के नितान्त अज्ञान और दूसरी ओर मान प्रतिष्ठा के प्राप्त करने के आशय से प्रेरित होकर की हुई इन ब्राह्मणम्मन्य लोगों की धूर्तता से वर्तमान जन्म सिद्ध जाति भेद की उत्पत्ति हुई, जिसकी हानियां और विकाश के विषय में हम पञ्चम अध्याय में विचार करेंगे यहां इतना ही लेख पर्याप्त है।

चतुर्थ अध्याय

वर्णव्यवस्था पर तुलनात्मक विचार

वर्ण व्यवस्था भारतीय समाज-शास्त्र की आधार शिला है, जिस पर धार्मिक, सामाजिक और ऐतिहासिक दृष्टियों से पिछले दो अध्यायों में कुछ विचार किया जा चुका है। इस अध्याय में वर्णव्यवस्था के सम्बन्ध में तुलनात्मक विचार करना है। श्रम विभाग के द्वारा सारे समाज का संरक्षण यह वर्ण व्यवस्था का एक मुख्य तत्त्व है। वर्ण व्यवस्था इस कल्पना वा भावना को पहले से मानकर प्रवृत्त होती है कि सारा समाज एक शरीर के समान है और, व्यक्ति उसके भिन्न २ अङ्गों के समान हैं जिनके परस्पर सहयोग से ही समाज रूपी शरीर की स्थिति रह सकती है अन्यथा नहीं। इस विषयक कल्पना पर जब हम तुलनात्मक विचार प्रारम्भ करते हैं तो हमारी दृष्टि इङ्गलैन्ड के समाजशास्त्रियों के शिरोमणि हर्बर्ट-स्पेन्सर के Principles of Socialogy नामक ग्रन्थ पर जाती है जिस में "Society is an organism" शीर्षक का लेख विशेष मनन योग्य है। वैसे तो इस सारे लेख के अन्दर ही समाजशास्त्र विषयक उत्तम तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया है, पर निम्नलिखित कुछ उद्धरणों का देना यहां अत्यावश्यक मालूम देता है जो वर्णव्यवस्था के आधार भूत श्रम-विभाग के सिद्धान्त पर प्रकाश डालने वाले हैं।

अपने समाजशास्त्र के सिद्धान्त नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग के द्वितीय अंश में हर्बर्ट स्पेन्सर लिखते हैं।

"The division of labour is that which in the society, as in the animal, makes it a living

whole. Scarcely can I emphasise enough the truth that in respect of this fundamental trail a social organism and an individual organism are entirely alike. We can not but admit that mutual dependence of parts is an essential Characteristic." (Principles of Socialogy Vol I. Part II P. 440)

इसका तात्पर्य यह है कि यह श्रम-विभाग ही है जो एक जानवर और मनुष्य समाज को सम्पूर्ण बनाता है। मैं इस सचाई को ज़ोरदार शब्दों में प्रकट किये बिना नहीं रह सकता कि इस मुख्य चिन्ह के बारे में सामाजिक और वैयक्तिक शरीर बिल्कुल एक जैसे हैं। यह माने बिना हम नहीं रह सकते कि अवयवों का एक दूसरे पर आश्रय, यही दोनों का प्रधान चिन्ह है।

वर्णव्यवस्था के मूल में यह सिद्धान्त काम करता है कि जो जिस काम के लिये सबसे अधिक योग्य है उसे उसी काम में लगाना चाहिये और वैसी ही अनुकूल परिस्थिति उसके लिये उत्पन्न करनी चाहिये। प्रत्येक को बिना अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों का ख़्याल किये हुए हर एक तरह के काम में नहीं लग जाना चाहिये। इस तरह काम करने का परिणाम यह होता है कि कार्य योग्य रीति से भली भांति नहीं हो सकता। भगवान् श्रीकृष्ण ने 'श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः पर धर्मात्स्वनुष्ठितात्। स्वधर्मे निधनं श्रेयः, पर धर्मो भयावहः ॥' इत्यादि श्लोकों में इसी तत्त्व का प्रतिपादन किया है। स्वधर्म का तात्पर्य वहां आन्तरिक प्रवृत्तियों से ही है, कल्पित मतमतान्तरों से नहीं। वर्ण-व्यवस्था का आधार श्रम विभाग है जिसका तत्त्व ही यह है कि, यतः सब एक ही तरह के शारीरिक या मानसिक कार्य नहीं करते अतः प्रत्येक अपनी २

योग्यता और शक्ति के अनुसार समाज सेवा करे। प्राचीन समय में इसलिये यह यत्न होता था कि ब्राह्मण कुलोत्पन्नों के अन्दर ब्राह्मणोचित प्रवृत्तियों की ही निरन्तर वृद्धि की जाए ताकि वे उनके द्वारा समाज की सेवा खूब अच्छी तरह कर सकें, यही नियम क्षत्रियों और वैश्यों और शूद्रों पर भी लागू था। इस विचार के साथ हर्बर्ट स्पेन्सर के निम्न लिखित लेख की तुलना बड़ी आश्चर्य जनक है।

"There is the truth that in both kinds of organism, the vitality increases as fast as the functions become specialised. In either case, before there exist, structures severally adapted for unlike actions they are ill performed, and in the absence of the developed appliances for furthering it, the utilisation of one another's service is but slight. But along with advance of organisation, every part more limited in its office, performs its office better, the means of exchanging benefits become greater; each aids all and all aid each with increasing efficiency, and the total activity we call life, individual or national augments." P. 477

यह एक सचाई है कि वैयक्तिक और सामाजिक शरीरों में जब उनके व्यापारों का विशेषीकरण हो जाता है अर्थात् उन्हें करने वाले पृथक् २ होते हैं तो उनकी कार्य शक्ति बढ़ जाती है। जब तक ऐसा नहीं होता तब तक उनका व्यापार ठीक तौर पर नहीं होता और वे एक दूसरे की सेवा से पूरा २ लाभ नहीं उठा सकते। किन्तु जब व्यवस्था की वृद्धि हो

जाती है अर्थात् भिन्न २ कार्य भिन्न २ अवयवों और व्यक्ति समुदायों को सौंप दिये जाते हैं तब प्रत्येक अवयव अपने कार्य के नियमित होने के कारण इस कार्य को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकता है, एक दूसरे से लाभ उठाने के साधन बढ़ जाते हैं, प्रत्येक अवयव समुदाय की और समुदाय प्रत्येक अवयव की अधिक क्षमता के साथ सहायता करता है और इस तरह सम्पूर्ण क्रिया-कलाप जिसे हम वैयक्तिक और राष्ट्रीय जीवन के नाम से कहते हैं वह वृद्धि को प्राप्त हो जाता है।

यह लेख स्पष्ट रूप से वर्ण व्यवस्था के आधारभूत सिद्धान्तों का समर्थन करने वाला है।

इस निबन्ध के प्रथम अध्याय में यह दिखाया जाचुका है कि भारतीय समाज शास्त्र व्यष्टि और समष्टिवादों का विरोध नहीं मानता, बल्कि वर्ण व्यवस्था के द्वारा उन दोनों को मिलाने का यत्न करता है। वस्तुतः जबतक इन दोनों वादों को मिलाया न जाए तब तक यथार्थ सुख और कल्याण की आशा नहीं की जा सकती। वर्णव्यवथा के अनुसार एक ओर तो प्रत्येक व्यक्ति को, ब्राह्मण क्षत्रिय वैश्य शूद्र में किसी भी एक वर्ण की वृत्ति को चुनने की पूरी स्वतन्त्रता होती है और दूसरी ओर उस वृत्ति के द्वारा समाज सेवा करने का मुख्य कर्तव्य होता है जिसके कारण हमें समाज पर और समाज को हम व्यक्तियों पर आश्रय रखना होता है। इसी व्यवस्था से ही व्यक्ति और समाज का कल्याण हो सकता है। इस विषय में हर्बर्ट स्पेन्सर के Social statics नामक ग्रन्थ का निम्न लेख विचारणीय है। General considerations इस शीर्षक के लेख में वे कहते हैं—

"To achieve the greatest sum of happiness, there must, on the one hand exist an amount of population maintainable by...........the extremist

mutual dependence, while on the other hand, each individual must have the opportunity to do whatever his desires prompt." P. 135

अर्थात् अधिक से अधिक सुख की मात्रा प्राप्त करने के लिये यह आवश्यक है कि जहां एक ओर परस्पर आश्रय और सहायता पर जनता का आधार हो वहां दूसरी ओर प्रत्येक व्यक्ति को अपनी आन्तरिक इच्छा या प्रवृत्ति के अनुकूल काम करने का अवसर मिले।

वर्ण व्यवस्था में ही ये दोनों शर्तें ठीक तौर पर पूरी हो सकती हैं इस में कोइ सन्देह नहीं।

अब हम संक्षेप से इस बात को दिखाना चाहते हैं कि न केवल प्राचीन भारत में बल्कि मिश्र, फ़ारस और युनान इत्यादि में भी बहुत से अंशों में यह वर्ण व्यवस्था प्रचलित थी, यद्यपि उतनी शुद्ध और आदर्श रूप में नहीं, जितनी भारत वर्ष में।

डा० हॉग ने पारसी मत विषयक अपने निबन्धों में स्पष्ट कहा है कि ईरान वासियों के धार्मिक ग्रन्थों में ४ वर्णों वा जातियों का साफ़ तौर पर वर्णन पाया जाता है, यद्यपि उन के नाम बदल दिये गये हैं। डा० हॉग के अपने शब्द ये हैं —

"In the religious records of the Iranians and in the Zend-Avesta the four castes are quite plainly to be found, only under other names." ::२

इन ४ विभागों के नाम ज़िन्द अवस्ता के यस्न इत्यादि में अथर्वा, रथेस्त, वस्त्रियशिया और हुइतिस ये दिये हैं, जो क्रमशः ब्राह्मण, पुरोहित, योद्धा, कृषक और श्रमी के द्योतक हैं। पहले दो शब्द तो साफ़ तौर पर संस्कृत अथर्वा और रथेष्टा शब्दों से लिये गये हैं जिन का वेद में अनेक

स्थानों पर प्रयोग हुआ है। तीसरे का पिछला भाग वैश्य शब्द का अपभ्रंश प्रतीत होता है।

ज़िन्द अवस्ता के अनुवाद में प्रो० डार्म स्टेटर लिखते हैं कि अ० ४२ (XLII) में चार वर्गों (classes) का स्पष्ट वर्णन पाया जाता है, जो कि हमें ब्राह्मणीय वर्ण व्यवस्था का स्मरण कराता है और इस में सन्देह नहीं कि यह जातियों वा वर्गों का विभाग भारत से लिया गया था।

(Zind-Avesta Vol. 1. Introd. P. XXX III).

प्राचीन मिश्र वासियों के धर्म का अनुशीलन करने से पता लगता है कि उनके अन्दर भी समाज का विभाग कुछ विशेष श्रेणियों के अन्दर किया हुआ था और धीरे २ वह विभाग भारतीय जाति भेद के ही रूप में आनुवंशिक (Hereditary) हो गया था जिस में परिर्तन करने की किसी को स्वतन्त्रता न दी जाती थी। इतना तो अवश्य मालूम होता है कि इन भिन्न २ विभागों के अन्दर परस्पर प्रीति का भाव विद्यमान था और एक दूसरे से घृणा न की जाती थी। इस विषय में International library of the Famous literature Vol 1. P. 65-68 तक में उद्धृत Manners and Customs of the Egyptians इस शीर्षक के चार्ल्स रौलन नामक प्रसिद्ध फ्रेञ्च ऐतिहासिक के लेख से कुछ आवश्यक भाग उद्धृत किये जाते हैं। वह ऐतिहासिक लिखता है कि—

"The Body politic requires a superiority and subordination of its several members; for as in the natural body, the eye may be said to hold the first rank, yet its lustre does not dart contempt upon the feet, the hands and even on those parts which are less honourable; in like manner,

among the Egyptians the priests soldiers and scholars were distinguished by particular honours, but all professions to the meanest, had their share in the public esteem, because the despising of any man, whose labours however mean, were useful to the state was thought to be a crime."

सारांश यह कि जिस प्रकार शरीर के सब अवयव मिलकर कार्य करते हैं और उनमें से कोई एक दूसरे से घृणा नहीं करता उसी प्रकार मिश्र देश में किसी भी व्यवसाय वा वृत्ति को घृणा की दृष्टि से नहीं देखा जाता था क्यों कि किसी मनुष्य से नफ़रत करना जिस की वृत्ति किसी भी रूप में राष्ट्र के लिये उपयोगी हो यह मिश्र में एक बड़ा अपराध समझा जाता था।

वही लेखक आगे हमें बतलाता है कि प्रत्येक मनुष्य की आजीविकादि वहां के कानूनों से निश्चित की जाती थी और यह आनुवंशिक होती थी। एक ही समय में दो वृत्तियां करना अथवा उसवृत्ति में परिवर्तन करना जिस में कोई मनुष्य उत्पन्न हुआ हो इस बात की आज्ञा न होती थी। इसका परिणाम क्या होता था इस के बारे में चार्ल्स रौलन लिखता है कि—

"By this means, men became more able and expert in employments which they had always exercised from their infancy, and every man, adding his own experience to that of his ancestors was more capable of attaining perfection in his particular art."

तात्पर्य यह कि ऐसा करने से मनुष्य अपने २ व्यवसायों में विशेष

निपुणता प्राप्त कर लेते थे और भिन्न २ कलाओं में पूर्णता प्राप्त करने के अधिक २ योग्य होते जाते थे।

यहां यह बताने की पुनः आवश्यकता नहीं कि प्राचीन काल में भारत का मिश्र देश के साथ बड़ा घनिष्ट सम्बन्ध था। कण्व, काश्यपादि मुनियों के मिश्र में जाकर काम करने का पहले वर्णन आ ही चुका है।

युनान देश की प्रचीन सामाजिक पद्धति के अनुशीलन से पता लगता है कि वह भी वर्ण व्यवस्था से ही मिलती जुलती थी। प्रसिद्ध दार्शनिक प्लेटो (अफ़लातून) ने तो एक प्रकार से स्पष्ट शब्दों में ही वर्ण-व्यवस्था का अपने Republic नामक ग्रन्थ में उल्लेख किया है। उसने सम्पूर्ण समाज को सुवर्ण के मनुष्य, चांदी के मनुष्य और लोहे के मनुष्य इस प्रकार के तीन भागों में विभक्त किया है और उन्हें क्रमशः परिपालक, योद्धा और कृषक का नाम दिया है। लोहा, चांदी, सोना यहां पर तम, रज और सत्वं के प्रतिनिधि समझे जा सकते हैं। परिपालकों वा अंग्रेज़ी अनुवाद के शब्दों में Guardians के जो कर्तव्य बताये गये हैं वे ब्राह्मणों के धर्मों का अनुकरण मात्र प्रतीत होते हैं। उनके लिये सादगी और तपस्या के जीवन को अत्यावश्यक माना गया है। मद्यपान का उन के लिये सर्वथा निषेध किया गया है। अपने पास आवश्यकता से अधिक कुछ भी द्रव्य रखने की उनके लिये सख़्त मनाई की गई है, जिसके विषय में अनुवादक के शब्द ये हैं—

"None of the guardians should possess any property of his own, except what is absolutely necessary. Then none of them to have any house or store chamber into which all can not enter when they please."

(Plato's Republic .. P. 136)

परिपालकों के लिये पारिवारिक चिन्ताओं से भी यथा सम्भव मुक्त रहने का इस ग्रन्थ में आदेश किया गया है। योद्धाओं और कृषकों के कार्य क्षत्रियों और वैश्यों से मिलते हैं।

मध्य यूरोप में भी Clergy, Baronage, People और Serfs मुख्यतः इन चार वर्गों में समाज का विभाग था। इस प्रकार तुलनात्मक दृष्टि से विचार करने पर हमें प्राचीन वर्णव्यवस्था की सार्वभौमता बहुत अंश तक प्रतीत होती है यद्यपि उसके रूप में परिस्थिति के अनुसार परिवर्तन अवश्य आता रहा है और आगे भी आता रहेगा।

भारतीय और यूरोपीय साम्यवाद

वर्ण व्यवस्था और सोशिएलिज़्म (Socialism)

वर्णव्यवस्था पर तुलनात्मक दृष्टि से विचार करते हुए साम्यवाद वा Socialism की आलोचना करना अत्यन्त आवश्यक प्रतीत होता है। इस समय तक सच पूछा जाए तो यूरोपीय साम्यवाद का कोई भी निश्चित रूप नहीं है। इङ्गलैन्ड, फ्रांस, जर्मनी, रूस के साम्यवाद बहुत से अंशों में एक दूसरे से अत्यन्त भिन्न हैं। दो चार बातों को छोड़ कर प्रायः हर एक बात में बड़े २ प्रसिद्ध साम्यवादियों तक का परस्पर मत भेद है। ऐसी अवस्था में यूरोपीय साम्यवाद क्या मानता है और क्या नहीं मानता यह निश्चय पूर्वक कहना बड़ा ही कठिन है तो भी हम यथाशक्ति साम्यवादियों के बहुपक्ष का मत संक्षेप से यहां दिखा कर उसकी भारतीय साम्यवाद और वर्णव्यवस्था के साथ तुलना करेंगे।

भारतीय साम्यवाद यह शब्द कुछ नया सा प्रतीत होता है पर थोड़ी गम्भीरता से पक्षपात रहित होकर विचार किया जाए तो साफ़ पता लग जाएगा कि समानता (Equality) बन्धुता वा सार्वजनिक भ्रातृत्व

(Fraternity) और स्वतन्त्रता (Liberty) के जो उच्च सिद्धान्त प्रत्येक प्रकार के साम्यवाद की जड़ में पाये जाते हैं उनका स्पष्ट उल्लेख भारतीय साहित्य में पाया जाता है। ये सिद्धान्त यूरोपीय दिमाग़ के आविष्कार नहीं। समानता के सिद्धान्त का ऋग्वेद के निम्न लिखित दो मन्त्रों में कितने साफ़ शब्दों में प्रतिपादन है।

ते अज्येष्ठा अकनिष्ठास उद्भिदो अमध्यमासो महसा वि वावृधुः।
ऋ० ५।५९।६॥

अज्येष्ठासो अकनिष्ठास एते संभ्रातरो वावृधुः सौभागाय।
ऋ० ५।६०।५॥

इन दोनों मन्त्रों में अज्येष्ठासः और अकनिष्ठासः ये शब्द आये हैं जिनका अर्थ यह है कि इन सब मनुष्यों में जन्म से कोई छोटा वा बड़ा नहीं है। पहले मन्त्र में इन दो शब्दों के अतिरिक्त 'अमध्यमासः' यह शब्द भी आया है जो सब मनुष्यों की समानता के सिद्धान्त को पुष्ट करता है। इन मन्त्रों का देवता मरुत् है और मरुत् शब्द का मनुष्य वाचक होना श्री सायणाचार्य ने भी अनेक स्थानों पर 'मनुष्य रूपा वा मरुतः' इत्यादि वाक्य लिख कर स्वीकार किया है। ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उनमें से पहले में 'वि-वावृधुः' द्वारा वैयक्तिक उन्नति और दूसरे में 'सं वावृधुः' द्वारा सामाजिक उन्नति का निर्देश किया गया है। समानता के सिद्धान्त के साथ २ ही दूसरे मन्त्र में 'भ्रातरः' कह कर बिल्कुल साफ शब्दों में सार्वजनिक भ्रातृत्व वा Fraternity के उच्च सिद्धान्त का प्रति-पादन किया गया है।

"यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानुपश्यति।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते॥"

ईशोपनिषत् के इस छठे मन्त्र में 'जो पुरुष सब भूत परमेश्वर के आश्रय पर हैं और सब भूतों के अन्दर परमेश्वर व्यापक है, ऐसा जानता

है वह फिर कभी किसी से घृणा नहीं करता' यह कह कर समानता के उच्च सिद्धान्त का ही तात्विक रीति से प्रतिपादन किया गया है इससे कौन इन्कार कर सकता है ? श्री भगवान् कृष्ण ने भगवद् गीता में—

विद्याविनयसम्पन्ने, ब्राह्मणे गवि हस्तिनि ।
शुनि चैव श्वपाके च, पण्डिताः समदर्शिनः ॥

यह जो ब्राह्मण और चण्डाल तक को समदृष्टि से देखने का उपदेश किया है वह इसी समानता के ही उच्च सिद्धान्त के आधार पर है ।

"आत्मवत्सर्व भूतानि यः पश्यति स पण्डितः ॥"

यह जो सुप्रसिद्ध नीतिवाक्य पञ्चतन्त्र हितोपदेशादि ग्रन्थों में पाया जाता है वह भी साफ़ तौर पर समानता के ही उच्च सिद्धान्त को लेकर कहा गया है । समानता के साथ २ ही सार्वजनिक भ्रातृत्व का सिद्धान्त जाता है ।

'त्वं हि नः पिता वसो । (८ । ९८ । ११).
स नो बन्धुर्जनिता ॥ (यजु० ३२ । १०)
यो नः पिता जनिता यो विधाता । (ऋ० १० । ८२ । ३)
अग्निं मन्ये पितरमग्निमापिम् ॥ (ऋ० १० । ७। ३)

इत्यादि वेद मन्त्र परमेश्वर को सब प्राणियों का एक ही समान पिता बतलाते हैं । जब सबके सब मनुष्य चाहे वे किसी भी देश, रङ्ग और धर्म के हों, एक ही पिता के पुत्र हैं तो उनके परस्पर बन्धु या भाई होने में सन्देह ही क्या हो सकता है ! श्वेताश्वतरोपनिषत् के द्वितीय अध्याय में इसी भाव को प्रकट करने के लिये यजुर्वेद के "शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्रा आ ये धामानि दिव्यानि तस्थुः ।" (११ । ५) इस सुप्रसिद्ध मन्त्र को उद्धृत किया गया है, जो सबके सब मनुष्यों को एक ही अमृत स्वरूप परमेश्वर के पुत्र बतलाता है ।

स्वतन्त्रता के उच्च सिद्धान्त के विषय में अधिक प्रमाणों का उल्लेख करने की विशेष आवश्यकता नहीं क्योंकि वेदों के हज़ारों मन्त्र स्वतन्त्रता के भावों को दिल के अन्दर कूट २ कर भर देने वाले हैं।

'अदीनाः स्याम शरदः शतम्।'

यह भारतीय आर्यों की सन्ध्या के समय दैनिक प्रार्थना है।

"यो अस्मां अभिसदात्यधरं गमया तमः॥" (यजु० ८।४४)

यह आर्यों की परमेश्वर के प्रति हार्दिक प्रार्थना है, जो दासता में डालने की चेष्टा करने वाले पुरुषों के नाश और अन्धकार में डाले जाने की सूचना देती है। वैदिक ऋषियों को तो स्वतन्त्रता अपने प्राणों से भी अधिक प्रिय थी इसलिये वे अग्नि अर्थात् ज्ञानस्वरूप परमेश्वर से वेद मन्त्र द्वारा यह प्रार्थना किया करते थे कि—

"योऽस्मांश्चक्षुषा मनसा चित्त्याकूत्या च
यो अघायुरभिदासात् त्वं तानग्ने मेन्यामेनीन् कुरु॥"

जिसका अर्थ यह है कि जो पापी हमें किसी भी तरह मन से भी दास बनाने का विचार करता है उसका हे परमेश्वर! तू नाश करदे।

इस स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को हमारे पूर्वज इतना महत्त्व देते थे कि धर्म-शास्त्रकार मनु महाराज ने सुख दुःख का लक्षण ही—

"सर्वं परवशं दुःखं, सर्वमात्मवशं सुखम्॥"

इन शब्दों में किया है जिनमें स्वाधीनता ही सुख है और पराधीनता दुःख है यह उच्च सिद्धान्त बताया है।

वैदिक धर्म के अनुयायियों का यह दावा है कि ऊपर समानता, सार्वजनिक भ्रातृत्व और स्वतन्त्रता के जिन तीन उच्च सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया गया है वे हमारी वर्णव्यवस्था पर पूर्णतया लागू होते हैं। वैदिक वर्ण

व्यवस्था जन्म सिद्ध ऊंचनीच को न स्वीकार करते हुए सब मनुष्यों को अपना बन्धु समझने का उपदेश करती है, साथ ही वह प्रत्येक व्यक्ति को स्वतन्त्रता देती है कि अपनी आन्तरिक प्रवृत्तियों को जान कर अपनी योग्यता और शक्ति के अनुसार वह समाज की सेवा करे। किसी भी व्यक्ति को दासता के बन्धन में डालना वैदिक वर्णव्यवस्था के मूल सिद्धान्तों के ही विरुद्ध है। इस पर प्रतिवादियों की तरफ़ से कई तरह की आशङ्काएं की जाती हैं। वर्णव्यवस्था और वर्तमान जाति भेद को एक मानते हुए वे कहते हैं कि जाति भेद तो समानता, स्वतन्त्रता सार्वजनिक भ्रातृता की मूल पर ही कुठाराघात करने वाला है। इस बात को हम भी स्वीकार करते हैं। यह वर्तमान जाति भेद जिस का आधार जन्म पर है और जो लाखों करोड़ों व्यक्तियों को अछूत समझ कर कुत्ते बिल्लियों से भी बुरा व्यवहार उन के साथ करना अनुचित नहीं समझता, निःसन्देह इसे समानता और स्वातन्त्रता का पक्षपोषक बतलाना महामूर्खता होगी, किन्तु हम पहले ही इस बातको स्पष्ट कर चुके हैं कि शास्त्रीय वर्णव्यवस्था जिस के भिन्न २ पहलुओं पर हम विचार करते आ रहे हैं गुण, कर्म, स्वभाव पर आधार रखती है न कि केवल जन्म पर। यहां तक कि जन्म को तो उसका आवश्यक अङ्ग तक शास्त्र में स्वीकार नहीं किया गया, यद्यपि वह कभी २ सहायक अवश्य होता है। इस विषयक प्रमाणों को द्वितीय अध्याय में प्रस्तुत किया जा चुका है। यहां दो चार यूरोपीय विद्वानों की साक्षियां प्रस्तुत करनी अप्रासङ्गिक न होंगी जो हमारे उपर्युक्त आशय का ही स्पष्ट शब्दों में समर्थन करने वाली हैं।

(१) रेवरेन्ड एफ० डी० मौरिस (Rev. F. D. maurice) नामक विद्वान् The Religions of the world नामक अपने ग्रन्थ के पृ० ४२ पर लिखते हैं कि—

"The shudras are not in any sense slaves.

The Greeks were surprised to find all classes in India free Citizens."

अर्थात् शूद्र किसी भी अर्थ में गुलाम नहीं कहे जा सकते। युनानियों को यह देख कर आश्चर्य हुआ था कि भारत में सब जातियों के लोग स्वतन्त्र नागरिक समझे जाते थे।

(२) कर्नल टॉड राजस्थान के इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक ने भी यह बतलाया है कि सूर्य वंश और चन्द्र वंश के प्राचीन काल में पुरोहित कार्य आनुवंशिक न था। उनके अपने शब्द ये हैं।

"In the early ages of these Solar and Lunar dynasties, the priestly office was not hereditary in families, it was a profession."

(३) सुप्रसिद्ध युनानी दूत मेगस्थनीज़ ने अपने वृत्तान्त में बताया है कि किसी भी जाति का हिन्दू दार्शनिक Sophist ब्राह्मण बन सकता है।

(४) कर्नल आल्काट ने भी इस विषय में उपर्युक्त आशय का ही लेख लिखा है। उनके शब्द हैं।

"The People were not as now, irrevocably walled in by castes, but they were free to rise to the highest social dignities or sink to the lowest Position according to the inherent qualities they might possess."

(५) जर्मनी के अत्यन्त प्रसिद्ध विद्वान् प्रो० मैक्समूलर ने Clips from a German workshop (Vol. II. P. 307) में यह प्रश्न उठाकर कि क्या हमारे सामने इस समय तक जितनी लेख

सामग्री विद्यमान है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है कि जाति भेदजो स्मृतियों में वर्णित है अति प्राचीन वेदोक्त धर्म का भाग है इसका उत्तर प्रबल नकार में दिया है।

(६) प्रो० वीवर ने भी Indian Literature (P. 38) में यही माना है कि अति प्राचीन काल में वर्तमान जाति भेद न था।

इन सब यूरपीय विद्वानों की सम्मतियां यहां उद्‌धृत करने का प्रयोजन केवल यह है कि न केवल वैदिक धर्म के अनुयायी बल्कि वे विदेशी विद्वान् भी जिन्हें वैदिक धर्म के साथ किसी तरह की सहानुभूति नहीं इस बात को स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि वर्त्तमान जाति भेद प्राचीन वेदोक्त धर्म का भाग नहीं था। इसलिये इसको मान कर वर्ण व्यवस्था विषयक उपर्युक्त मत पर जो आक्षेप किये जाते हैं वे सर्वथा निर्मूल हैं।*

अब हम यूरोपीय साम्यवाद का संक्षेप से दिग्दर्शन कराकर उसकी भारतीय साम्यवाद के साथ तुलना करेंगे। जैसा कि पहले लिखा जा चुका है यूरोप के भिन्न २ साम्यवादी नेताओं का आपस में इतना अधिक मतभेद है कि साम्यवाद के सिद्धान्तों पर कुछ भी निश्चय रूप से लिखना अत्यन्त कठिन हो गया है, तथापि यहां हम जर्मनी के साम्यलोक-मतवादी दल वा Social Democrat के अभिमत प्रस्ताव उद्‌धृत करते हैं जो यूरोपीय साम्यवाद के प्रायः सब मुख्य तत्त्वों को लिये हुए हैं। वे प्रस्ताव निम्न लिखित हैं—

(१) साम्राज्य के १० वर्ष से अधिक अवस्था वाले समस्त पुरुषों और स्त्रियों को वोट देने का समान अधिकार प्राप्त हो जाए।

(२) कानून बनाने का काम सारी प्रजा प्रत्यक्ष रूप से करे अर्थात् सब लोगों को किसी प्रकार के कानून को प्रस्तुत करने का पूरा अधिकार

---

* इनमें से कई उद्धरण यहां श्रीयुत हरविलास शारदा कृत "Hindu Superiority" नामक ग्रन्थ से लिये गये हैं।

रहे। राज्य के अधकारियों का चुनाव प्रजा द्वारा हो और वे प्रजा के सामने उत्तर दायी हों।

(३) सब लोगों को सैनिक कार्यों की शिक्षा दी जाए। देश में स्थायी सेनाओं के बदले स्वयं प्रजा की सेना रहे। युद्ध और शान्ति इत्यादि का निर्णय प्रजा के प्रतिनिधि करें।

(४) स्वतन्त्रता पूर्वक विचार प्रकट करने, लोगों में एकता फैलाने अथवा सभाएं आदि करने में जितने क़ानून बाधक हों वे सबके सब तोड़ दिये जाएं।

(५) सार्वजनिक अथवा व्यक्ति गत बातों में जो क़ानून पुरुषों के मुक़ाबले में स्त्रियों को कुछ कम अधिकार देते अथवा उन्हें घाटे में रखते हों वे सब कानून तोड़ दिये जाएं।

(६) जितनी धार्मिक सभाएं हैं वे सब प्राइवेट सभाएं समझी जाएं। किसी प्रकार के धार्मिक कार्य के लिये सार्वजनिक कोश से कुछ भी धन न लगाया जाए।

(७) विद्यालयों में किसी प्रकार की धार्मिक शिक्षा की व्यवस्था न की जाए। सार्वजनिक विद्यालयों में अनिवार्य और मुफ़्त शिक्षा दी जाए।

(८) न्याय की व्यवस्था बिल्कुल मुफ़्त हो जाए। फांसी की सज़ा बिल्कुल उठा दी जाए।

(९) सब प्रकार के रोगियों की चिकित्सा बिल्कुल मुफ़्त हो।

(१०) वे सब कर चुंगियां आदि हटा दी जाएं जो किसी छोटे से वर्ग के हित के विचार से लगाई गई हों और जिनसे समष्टि के हित की हानि होती हो। *

* बा० रामचन्द्र वर्मा कृत 'साम्यवाद' नामक पुस्तक के पृष्ठ १८५-१८७ तक से उद्धृत।

इसे यूरोपीय साम्यवाद का अच्छे से अच्छा रूप कहा जा सकता है। इसमें विवादास्पद सम्पत्तिविभाग, उत्तराधिकार, परिवार सम्बन्धी व्यवस्था इत्यादि का उल्लेख नहीं है। यदि यूरोपीय साम्यवाद का यही सर्व सम्मति अथवा बहु संख्या से स्वीकृत रूप हो तो उसमें हमें कोई बड़ी आक्षेपयोग्य बात भी नज़र नहीं आती। इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता कि समानता, स्वतन्त्रता और सार्वजनिक भ्रातृत्व के उच्च सिद्धान्तों को चरितार्थ करने के लिये ही प्रायः ये सब नियम बनाये गये हैं। धार्मिक शिक्षा तथा कार्यों के विषय में यहां सर्वथा उदासीनता दिखाई गई है जो कुछ आक्षेप योग्य है पर अधिक इसलिये नहीं कि धर्म से तात्पर्य वहां केवल सम्प्रदाय से है और विज्ञान, तर्क, शास्त्र-विरोधी ईसाई मत की शिक्षा पाकर विद्यार्थी मतान्ध और अन्धविश्वासी हो जाएंगे ऐसा इन नियमों को बनाने वालों को भय मालूम होता है जो बहुत अंश तक ठीक भी है।

मि०, वेल्ज़ (Wells) का नाम यूरोपीय साम्तवादी समाजशास्त्रज्ञों में बहुत प्रसिद्ध है, उन्होंने 'मोडर्न यूरोपिया' (Modern Utopia) नाम की एक पुस्तक उपन्यास के ढङ्ग पर लिखी है जिस में अपने विचारानुसार एक आदर्श साम्यवादी समाज का नक्शा खींचा है। साम्यवाद के भिन्न २ विषयों के सिद्धान्तों की आलोचना करने से पूर्व उसका निर्देश कर देना अनुचित न होगा। मि० वेल्ज़के लेख का सारांश यह है कि सारा संसार एक राष्ट्र (State) के रूप में हो जिसमें यूरोपियन, नीग्रो, मंगोलियन सैमिटिक सब जातियों और रङ्गों के आदमी भाइयों और मित्रों के समान प्रीति पूर्वक मिल कर रहें और एक ही भाषा बोलें। खुले तौर पर उनके परस्पर भोजन विवाहादि सम्बन्ध हों। इस सम्पूर्ण विस्तृत राष्ट्र की राजनैतिक शक्ति समुराइ (Samurai) नामक मनुष्यों के एक ऐसे वर्ग के हाथ में रहे जो बुद्धि, वीरता, आत्मसंयम तथा अन्य गुणों के कारण

सब से अधिक प्रसिद्ध हों। यह संसार-राष्ट्र ही सारी भूमि, लकड़ी, पानी बिजली, भोजन, सामग्री इत्यादि का मालिक समझा जाए। सिवाय उन वस्तुओं के जिन्हें यह स्थानीय सर्कार और म्युनिसिपलिटियों को दे दे और वे उन्हें व्यक्तियों को देवें। सब विवादों का निर्णय वादी प्रतिवादी के प्रति निधियों की पञ्चायत के द्वारा और जहां तक सम्भव हो न्यून से न्यून वेतन लेकर किया जाए। अपराधियों व पक्के शराबियों और दूसरे सब निकम्मे लोगों को अण्डेमन जैसे द्वीपों में निर्वासित के रूप में रखा जाय और उनकी सन्तान उत्पन्न न हो, इस बात के साधन किये जाएं। क्योंकि स्वस्थ सन्तान का उत्पन्न करना जनता के हित का वर्धक है। इसलिये सब विवाहित स्त्रियों का राष्ट्र की तरफ़ से पालन किया जाय (सम्भवतः कुछ वेतन देकर) और विवाह सम्बन्धी प्रतिबन्ध लगाकर अधिक आबादी के खतरे को निर्मूल किया जाए।

संक्षेप से मि० वेल्ज़ का आदर्श-साम्यवादी राष्ट्र का नक्शा उपर्युक्त है। इसके विषय में इतना ही कहा जा सकता है कि यह एक उत्तम कल्पना है जो किसी उच्च-भाव युक्त दिमाग़ से निकल सकती है और जो पढ़ने और सुनने वालों को आनन्द दे सकती है पर क्या यह सब कुछ कभी क्रियात्मक रूप में लाया गया है या लाया जा सकता है? सारे संसार को एक राष्ट्र बनाना और सब जातियों के लोगों का एक ही भाषा बोलना, सारे संसार में से चुने हुए कुछ थोड़े से लोगों के हाथ में सारी शासन संबन्धी राजनैतिक शक्ति का होना ये सब केवल कल्पना के तौर पर बड़ी सराहनीय बातें हैं, पर यह कल्पना तक करना भी अत्यन्त कठिन है कि इतनी भिन्न २ जातियों, भाषाओं और सभ्यताओं का सारा भेद मिटकर एक ऐसे नवीन अभूत-पूर्व युग और समाज का प्रादुर्भाव हो जाएगा।

वर्तमान यूरोपीय साम्यवाद की मुख्य स्थापनाएं इस प्रकार कही जा

सकती हैं (१) उत्पत्ति, विभाग और विनिमय (Prodaction, Distribution and Exchange) के जितने भी साधन हैं वे वैयक्तिक सम्पत्ति न रहें, बल्कि राष्ट्र (State) उन्हें अपने अधिकार में ले ले। बड़ी २ ज़मीन्दारियों, कारख़ानों, रेलों, जहाज़ों और कम्पनियों पर व्यक्तियों का नहीं अपितु सारे समाज वा राष्ट्र का अधिकार होना चाहिये। यह समाजाधिकार किस प्रकार किया जाए इसके ये तीन साधन हो सकते हैं (१) लोग अपनी ख़ुशी से अपनी सारी सम्पत्ति राष्ट्र को अर्पित करदें। (२) राज्य ज़बर्दस्ती उनसे सम्पत्ति छीन ले। (३) राष्ट्र बदला या मूल्य देकर ख़रीद ले। प्रायः साम्यवादी तीसरे साधन के पक्षपाती हैं; पर प्रश्न यह है कि साम्यवादी सर्कार के पास इतना धन कहां से आएगा कि वह सब वैयक्तिक सम्पत्तियों और कारख़ानों वग़ैरह को ख़रीद सके। रिगनानो तथा कुछ दूसरे साम्यवादियों ने अपहरण को ही काम में लाने की शिक्षा दी है।

(२) उत्तराधिकार की पद्धति को उठा देना चाहिये। एक दम से ऐसा करना वे भी असम्भव समझते हैं इसलिये उनका प्रस्ताव यह है कि पिता की सम्पत्ति के $\frac{२}{३}$ का पुत्र और $\frac{१}{३}$ का राज्य उत्तराधिकारी माना जाए। पुत्र की सम्पत्ति जब पौत्र के हाथ में जाने लगे तब राज्य उसमें से आधा ले ले और इस दूसरे उत्तराधिकारी के मरने पर उसके पुत्र को कुछ न देकर शेष सारी सम्पत्ति पर राज्य अपना अधिकार कर ले। इस प्रकार करने से दो तीन पीढ़ियों में सारी वैयक्तिक सम्पत्ति राज्य के हाथ में आ जाएगी।

(३) स्वतन्त्रता के सिद्धान्त को चरितार्थ करने के लिये अनेक कट्टर साम्यवादी विवाह पद्धति और कुटुम्ब प्रथा का बिल्कुल अन्त कर देना चाहते हैं। उनका कथन है कि स्वतन्त्र प्रेम वा Free love की प्रथा प्रचलित होनी चाहिये। जब तक जिसके साथ बने उसके साथ रहे, जब

बिगड़े तो दोनों ने अपना अलग २ रास्ता ले लिया करें। विवाह का बन्धन अनुचित और स्वतन्त्रता में बाधक है। अराजकता वाद के प्रवर्तक बकुनिन तथा और कई साम्यवादियों का ऐसा ही मत था। पर अब नवीन साम्यवादी इतनी दूर जाने को तय्यार नहीं। उनका कथन यह है कि प्रत्येक व्यक्ति आर्थिक दृष्टि से स्वतन्त्रता हो जाए। व्यक्तियों का पारस्परिक बन्धन ढीला कर दिया जाए विवाह की प्रथा रहे पर जब पति पत्नी की अनबन हो और वे तलाक करना चाहें तो उन्हें वैसा करने की खुली छुट्टी हो। स्त्रियों के लिये भी पुरुषों की तरह किसी न किसी रूप में समाज की सेवा करना आवश्यक माना जाए, उन्हें डाक्टर वकील क्लर्क शिक्षकादि में से किसी भी व्यवसाय के करने की मनाई न हो।

यूरोपीय साम्यवाद का मुख्य प्रयोजन आर्थिक न्याय (Economic justice) को प्राप्त कराना है। इसके धुरन्धर प्रचारक कार्ल मार्क्स ने अपने ग्रन्थ, "Capital" में बताया है कि कारखानों वगैरह में सारा काम तो बेचारे श्रमियों को करना पड़ता है, अपने स्वास्थ्य को भी बिगाड़ते हुए वे बेचारे दिन रात मज़दूरी करते हैं पर इस सारे श्रम के बदले उनको बहुत ही कम द्रव्य मिलता है। प्रायः सब का सब लाभ थोड़े से पूंजीपतियों की जेबों में चला जाता है जिन के पास सौभाग्य से मशीनें हैं वे इस तरह टके कमा कर मौज लूटते हैं। बेचारे श्रमियों को कोई पूछता तक नहीं। आदम स्मिथ रिकार्डो, मिल इत्यादि अर्थशास्त्रज्ञों के अभिमत सिद्धान्तों को लागू करते हुए कार्ल मार्क्स ने सिद्ध किया है कि आर्थिक न्याय इसी में है कि लाभ का बहुत सा हिस्सा श्रमियों को मिले। कार्ल मार्क्स ने यहां तक भी लिख दिया कि surplus का सारे का सारा भाग केवल श्रमियों को ही मिलना चाहिए। पूंजीपतियों का उस पर बिल्कुल अधिकार नहीं है! कार्ल मार्क्स ने सामाजिक न्याय (Social justice) के सिद्धान्त को न रखते हुए केवल

आर्थिक न्याय पर बल दिया। मार्क्स के इस 'आर्थिक न्याय'-के सिद्धान्त पर कई लेखकों ने बड़ा वाद विवाद उठाया है। उदाहणार्थ "Socialogy applied to Practical Politics" नामक पुस्तक के लेखक जॉन बेट्टाइ क्रॉज़ियर (John Beattie crozier Hon. LL. D.) जिन्होंने समाज शास्त्र पर और भी कई मौलिक ग्रन्थ लिखे हैं उपर्युक्त पुस्तक के प्रथम खण्ड में challange socialism इस शीर्षक के नीचे मार्क्स के आर्थिक न्याय के सिद्धान्त की आलोचना करते हुए दिखाते हैं कि मार्क्स का यह कहना कि सारे लाभ (Surplus) पर श्रमियों का ही अधिकार है क्योंकि यह उन्हीं के परिश्रम का फल है, अशुद्ध है अतः लाभ अधिकतर मशीनों की उपज है। मशीनें पूंजीपतियों ने धन लगा कर बड़े वैज्ञानिकों अथवा आविष्कारकों द्वारा बनवाई हैं। यदि मशीनें न होतीं तो श्रमी लोग अब जितना काम कर सकते हैं उसका २० वां हिस्सा भी न कर सकते इसलिए लाभ का श्रेय मशीनों को मिलना चाहिये। मशीनें बनाने में वैज्ञानिकों और आविष्कारकों का दिमाग लगा है इसलिए जैसा कि अमेरिका के कोटिपति कार्नेगी ने स्पष्ट स्वीकार किया है—

"In any Judgment the loin's share ought to go, on lines of strict economic justice, to the scientists; and only a much lesser amount to the great organisers and capitalists like myself; in as much as without the scientist, the labourers of the organisers, capitalists and financiers would be as barren of surplus as those of the whole united body of ordinary working men." (Quoted in Croziers socialgy P. 7).

अर्थात् मेरे विचार में लाभ का सब से बड़ा हिस्सा वैज्ञानिकों को मिलना चाहिए, उस से कम पूंजीपतियों को और उससे कम श्रमियों को, क्योंकि वैज्ञानिकों के बिना पूंजीपतियों और कम श्रमियों के सब उद्योग व्यर्थ से हो जायँ। आर्थिक न्याय की दृष्टि से यह बात निःसंकोच कही जा सकती है। इस विषय पर विवाद का कारण साम्यवाद के पोषकों और विरोधियों का 'अति' कर देना है। जहां एक ओर मार्क्स जैसे साम्यवादी यहां तक कहने में संकोच नहीं करते कि लाभ सारे का सारा केवल श्रमियों को मिलना चाहिये वहाँ दूसरी ओर उनके विरोधी यह सिद्ध करने का यत्न करते हैं कि श्रमियों का लाभ पर अधिकार बहुत ही थोड़ा है क्योंकि यदि वैज्ञानिक मशीनों का निर्माण न करें और धनी उन्हें बन-वाने में पैसा न लगावें तो श्रमी कुछ भी नहीं कर सकते। सच्ची बात तो यह है कि वर्तमान समय में यूरोप के अन्दर और मशीनों की कृपा से अब भारत के अन्दर भी पूंजीपतियों और श्रमियों तथा धनियों और निर्धनों के बीच एक बड़ा विवाद उपस्थित हो गया है, बड़ी भारी विषमता खड़ी हो गई है। एक ओर जहां थोड़े से करोड़पति हैं जो अपने बाप दादों की कमाई खाकर मौज करते हैं और जिन्हें दूसरों के हित की ज़रा भी फ़िकर नहीं, वहां दूसरी ओर बहु संख्या, ¾ संख्या कहा जाए तो उसमें भी अत्युक्ति न होगी, ऐसे लोगों की है जिनकी आर्थिक अवस्था अत्यन्त शोचनीय है, जिन्हें पेट भर खाना और पहरावा तक मुश्किल से नसीब होता है। "Riches and Poverty" नामक सुप्रसिद्ध पुस्तक के लेखक चोज़ामनी ने संयुक्तराष्ट्र (United Kingdom) जिसके अन्दर इङ्गलैण्ड, स्कॉट लैन्ड और आयलैंण्ड का समावेश है) के विषय में बतलाया है कि वहां ५० लाख आदमी जिन की वार्षिक आय १६० पौण्ड वा इससे ऊपर है ८३ करोड़ वार्षिक आय के स्वामी हैं। दूसरी ओर ३ करोड़ ८० लाख आदमी जिनकी वार्षिक आय १६० पौ०

से कम है ८८ करोड़ वार्षिक आय के मालिक हैं अर्थात् कुल आवादी का $\frac{१}{६}$ भाग कुल आय के $\frac{१}{३}$ का भोग करता है एक दूसरी तालिका देकर मनी महोदय ने बताया हैं कि संयुक्त राज्य की $\frac{१}{३}$ सम्पूर्ण आय से अधिक का कुल आवादी के $\frac{१}{३०}$ से कम जनसंख्या भोग करती है। ३० प्रति शतक संख्या नित्य दारिद्रय अवस्था में रहती है। (Riches & poverty p. 42-43)

अमेरिका के विषय में रॉवर्ट हन्टर नामक प्रसिद्ध समाज-शास्त्रज्ञ ने बताया है कि अच्छी फ़सल के साल में भी वहां एक करोड़ से कम आदमी ग़रीब नहीं होते जिन को भोजन वस्त्रादि की तङ्गी रहती है। इनमें से ४० लाख भिखमंगे हैं। २० लाख से अधिक असी वर्ष में ४ से ६ मास तक बेकार रहते हैं। अमेरिका के आधे परिवारों के पास कोई जायदाद नहीं। १७ लाख वालकों को स्वयं कमाना पड़ता है। ५० लाख स्त्रियां स्वयं कार्य करने को वाधित हैं और उनमें से २० लाख कारख़ानों में काम करती हैं।"

इन बातों के उल्लेख करने का मतलब केवल वर्तमान समय की यूरोप तथा अमेरिका जैसे सभ्यताभिमानी देशों में विशेष रूप से प्रचलित विषमता का दिग्दर्शन कराना था। यूरोपीय साम्यवाद का मुख्य उद्देश्य जहां तक सम्भव हो इस कृत्रिम विषमता को दूर करना है। यह सम्भव नहीं कि सब प्रकार की विषमता को हटा कर सबको बराबर कर दिया जाए, स्वयं प्रकृति ने जो विषमता उत्पन्न की है। उसे कौन दूर कर सकता है, पर कुछ ऐसी विषमता भी है जो प्राकृतिक नहीं है और जिसे समाज की सुव्यवस्था से अवश्य दूर किया जा सकता है। इसी विषमता को दूर करने के लिये साम्यवादियों का प्रस्ताव है कि ज़मीन और पूंजी पर से व्यक्ति गत अधिकार उठा कर उन्हें समाज के अधिकार में कर दिया जाए जिस से सुख और सम्पत्ति आदि का सारे

समाज में समान रूप से बंटवारा हो जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति कहां तक हो सकेगी यह कहना बड़ा कठिन है तथापि साम्यवाद के सिद्धान्तों के प्रचार के कारण अब श्रमियों की दशा आगे से बहुत उन्नत हो गई है और लोगों के अन्दर पारस्परिक सहानुभूति पूर्व की अपेक्षा बढ़ गई है इस में कोई सन्देह नहीं हो सकता। इस निबन्ध के अन्दर यूरोपीय साम्यवाद के सब अङ्गों पर विस्तार से विचार नहीं किया जा सकता और नहीं वैसा करना यहां अभीष्ट है। साम्यवादियों के अन्दर परस्पर सैकड़ों मतभेद होते हुए भी उनकी बहु संख्या के मत का पिछले पृष्ठों में निर्देश किया गया है। साम्यवाद का वैयक्तिक स्वतन्त्रता के साथ क्या सम्बन्ध है इस विषय पर भी यहां थोड़ा सा लिखना आवश्यक मालूम होता है।

साम्यवाद के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति एक प्रकार से सम्पूर्ण राष्ट्र वा समाज का सेवक होगा अतः प्रत्येक को कार्य देना यदि राज्य का ही काम होगा तो वैयक्तिक स्वतन्त्रता कहां रहेगी यह आशङ्का है जो साम्यवाद के विरोधी उठाते हैं और जिस का साम्यवादी कोई विशेष सन्तोष जनक उत्तर नहीं दे सकते। कार्ल काउस्की जैसे साम्यवादियों ने इस शङ्का के उत्तर में इतना ही कहा है कि अब भी तो श्रमजीवियों को मनमाना काम करने की स्वाधीनता नहीं है। फ़र्क़ साम्यवादी राज्य होने पर यह होगा कि अब जहां व्यक्तियों की पराधीनता है तब सम्पूर्ण समाज की अधीनता में श्रमजीवी को रहना पड़ेगा। मि० डेसिलिनियंस की सम्मति में साम्यवादी राज्य के ये कर्तव्य होने चाहियें।

(१) अपने शासन विभाग को ऐसे अधिकार दे रखना जिससे उपद्रव एक दम दबाया जा सके।

(२) जब चाहे किसी समाचार पत्र वा सभा को बन्द करा सके।

(३) प्रत्येक मनुष्य से जो बालक वृद्ध अथवा रोगी न हो पुरस्कार देकर उचित कार्य करा ले।

(४) जो ऐसा करने से इन्कार करे उसे थोड़ा सा धन देकर उसकी सम्पत्ति ज़ब्त कर ले। इत्यादि।

हर्बर्ट स्पेन्सर ने The man verses the state नामक प्रसिद्ध पुस्तक में साम्यवाद की कड़ी आलोचना करते हुए The coming slavery शीर्षक के लेख में कहा है "All socialism involves slavery. (P. 32)

"If without option one has to labour for the society and receives from the general stock such portion as the society awards him, he becomes a slave to the society. Socialistic arrangements necessitate an enslavement of this kind."

इसी लेख में पृ० ३७ पर स्पेन्सर महोदय कहते हैं।

"Each member of the community as an individual would be a slave to the community as a whole."

तात्पर्य यह कि साम्यवाद में वैयक्तिक स्वतन्त्रता एक प्रकार से बिल्कुल नष्ट हो जाती है। व्यक्ति, समाज का दास हो जाता है। बस, साम्यवाद के विषय में यहां अधिक विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं। एक बड़ी कमी साम्यवाद और इसके प्रायः प्रचारकों में धर्म के भावों का अभाव और विरोधिता रही है। अराजकतावाद के प्रचारक बकुनिन ने तो साफ़ ही अपने को नास्तिक कहा था। रूसो वगैरह भी नास्तिकवाद के ही पक्षपाती थे। नवीन साम्यवाद के पक्ष पोषकों में से कइयों ने यद्यपि ईसाई मत के सिद्धान्तों द्वारा साम्यवाद का समर्थन

करने का यत्न किया है और टॉल्स्टाय जैसे पक्के आस्तिकों का भी साम्य-वाद की तरफ़ ही झुकाव है तथापि यह कहना अयथार्थ न होगा कि प्रायः यूरोपीय साम्यवाद का धर्म के प्रति विरोध सा रहा है। यही कारण है कि Anarchism, Nihilism, Bolshevism इत्यादि साम्यवाद की शाखाओं में खुली हिंसा के द्वारा समानता पैदा करने अथवा धनियों के घरों को लूटने और उनके मकानों को जलाने तक में कोई पाप नहीं समझा गया। भारतीय साम्यवाद का जिसका एक मुख्य स्वरूप वर्णाश्रम व्यवस्था को कहा जा सकता है आधार ही धर्म है। यूरोपीय प्रकृतिवादी चाहे इस बात को स्वीकार न करें पर सचाई यह है कि जब तक धर्म के आधार पर सार्वजनिक भ्रातृत्व, समानता, स्वतन्त्रता और न्याय के उच्च सिद्धान्त लोगों के दिलों में घर नहीं बना लेंगे, अर्थात् हृदयों में परिवर्तन नहीं लाया जाएगा तब तक केवल नियमों के द्वारा अथवा क्रान्तिकारी हिंसात्मक उपायों द्वारा विषमता को दूर कर देने से कुछ भी विशेष लाभ न होगा। आवश्यकता तो इस बात की है कि देशवासियों के दिल बदल जाएं, धनियों के मन में स्वतः निर्धनों और दुःखितों के प्रति सहानुभूति का भाव उत्पन्न हो ताकि वे उनकी अवस्था उन्नत करने का यत्न करें। ये सब पूंजी और श्रम के विवादादि तब तक शान्त न होंगे जब तक न्याय का कार्य निःस्वार्थ पुरुषों के हाथ में न होगा। वर्ण व्यवस्था और साम्यवाद का अन्तिम उद्देश्य वा लक्ष्य तो एक ही है कि समाज और सम्पूर्ण जगत् के अन्दर शान्ति स्थापित की जाए। जहां वर्ण व्यवस्था शान्ति से उस काम को करना चाहती है और प्रत्येक विभाग में सुधार करना चाहती है वहां यूरोपीय साम्यवाद मुख्यतः आर्थिक न्याय की दृष्टि से ही इस प्रश्न पर विचार करता है और सब प्रकार के क्रान्ति-कारी उपायों से स्वयं धर्म तक को यदि तिलाञ्जलि न देते हुए और उसके प्रति अत्यन्त उपेक्षा वृत्ति को रखते हुए, मनुष्य समाज के संगठन में

परिवर्तन प्रस्तुत करता है जिनमें से कई प्रस्ताव तो उच्च कल्पना मात्र ही कहे जा सकते हैं। वर्णव्यवस्था में व्यष्टिवाद और समष्टिवाद का जहां अद्भुत मेल है वहां यूरोपीय साम्यवाद में उनके मेल के लिये इतना यत्न करने पर भी कोई विशेष सफलता नहीं हुई। इतने लेख से विचारशील पुरुष स्वयं निर्णय कर सकते हैं कि कौन सा अधिक उपादेय है।

यहां यह पूछा जा सकता है कि क्या वर्णव्यवस्था यूरोप में भी लागू हो सकती है यदि हां, तो किस रूप में! इसके उत्तर में हमारा कथन यह है कि वर्णव्यवस्था को ठीक पुराने रूप में न तो अभी भारत में ही प्रचलित किया जा सकता है और न यूरोप में। किन्तु वर्णव्यवस्था के इस तत्त्व को कि स्वार्थरहित सौम्यवृत्ति के परोपकारी पुरुषों को ही समाज में सबसे अधिक प्रतिष्ठा मिलनी चाहिये और कानून बनाने का अधिकार उन्हें दिया जाना चाहिये इसे भारत और यूरोप तथा अमेरिकादि अन्य देशों में भी काम में लाया जा सकता है। यह बात असन्दिग्ध है कि वर्तमान समय में कानून बनाने तथा निर्णय करने का काम जिन लोगों के हाथ में है उनमें बहुत से ऐसे हैं जो अत्यन्त स्वार्थी हैं और जिनके अन्दर परोपकार के भाव की कमी है अथवा जो दलबन्दी के अन्दर फँस कर सिद्धान्तों की अपेक्षा अपनी पार्टी के हित की ज़्यादह पर्वाह करते हैं।

Coming Slavery और Sins of Legislators इन दो निबन्धों में जिन में से एक दो उद्धरण पहले भी दिये जा चुके हैं प्रसिद्ध समाजशास्त्री हर्बर्ट स्पेन्सर ने बड़ी उत्तमता से इस बात को दिखाया है। मैन वर्सस् दि स्टेट (Man versus the State) पुस्तक के पृ० ३० पर वे कहते हैं—

"Representatives are unconscientious enough to vote for Bills which they believe to be wrong in principle, because party needs and regard for

the next election demand it. And thus a vicious policy is strengthened even by those who see its viciousness." (The Coming Slavery)

अर्थात् पार्लियामेन्ट में जनता के प्रतिनिधि अपनी अन्तरात्मा के विरुद्ध चलते हुए केवल पार्टी हित और आगामी चुनाव के ख़्याल से ऐसे बिलों के पक्ष में वोट दे देते हैं जिन्हें वे अशुद्ध समझते हैं और इस तरह से एक हानिकारक बुरी नीति का उन पुरुषों के द्वारा भी समर्थन किया जाता है जो उसकी बुराई को जानते हैं। इस बुराई को दूर करने का एक मात्र साधन यही है कि कानून बनाने का अधिकार ब्राह्मणवृत्ति के व्यक्तियों के हाथ में हो, चाहे वे किसी देश के हों। ब्राह्मण वृत्ति के व्यक्ति सत्य के लिये अपने जीवन तक की बलि देने को तय्यार होंगे। उन्हें परमेश्वर को छोड़कर किसी अन्य को खुश करने की पर्वाह तक न होगी। अपना गौरव रखने के लिये वे झूठी २ प्रतिज्ञाएं देकर और झूठे बिलों के पक्ष में वोट देकर पार्लियामेन्ट में चुने जाने की अपेक्षा अपनी शान्ति-कुटीरों में बैठकर पढ़ना पढ़ाना हज़ार गुणा अच्छा समझेंगे। उन लोगों के लिये जो 'संमानाद् ब्राह्मणो नित्यमुद्विजेत विषादिव। अमृतस्येव चाकाङ्क्षेदवमानस्य सर्वदा॥'* के उच्च आदर्श का अनुसरण करने वाले हों सत्य मार्ग से विचलित करने वाली दुनियां में चीज़ ही क्या हो सकती है? जब तक कानून बनाने और न्याय करने का काम ऐसे ब्राह्मणों के हाथ में नहीं आता तब तक न्याय का खून होता रहेगा और रॉलट बिल जैसे काले कानून भी बनने बन्द न होंगे चाहे कितना भी क्रान्तिकारी आन्दोलन केवल आर्थिक न्याय को प्राप्त करने के लिये क्यों न किया जाए। इसीलिये हम कहते हैं कि प्राचीन वर्णव्यवस्था के तत्त्व (spirit) को पुनरुज्जीवित किये बिना संसार का कल्याण नहीं हो सकता।

* सम्मान से ब्राह्मण सदा विष के समान भय करे। अपमान की सदा वह अमृत के समान आकांक्षा किया करे। मनु०॥

पञ्चम अध्याय

भारतीय समाज में प्रचलित बुराइयाँ और उनका इलाज

समाज शास्त्र के जो लक्षण प्रथम अध्याय में दिये गये हैं उनमें से प्रो० स्मॉल और विन्सेन्ट का किया हुआ लक्षण यह है।

"Socialogy is a science treating of social evils and their remedies."

अर्थात् समाजशास्त्र वह विज्ञान है जो सामाजिक बुराइयों और उनके इलाजों का वर्णन करता है। यह ठीक है कि समाज-शास्त्र का केवल यही प्रतिपाद्य विषय नहीं तो भी यह एक समाजशास्त्र का आवश्यक विषय है इसमें सन्देह नहीं हो सकता। यह निबन्ध क्योंकि भारतीय समाज की दृष्टि से लिखा जा रहा है इस लिये वर्तमान समय में वे कौन सी सामाजिक बुराइयां हैं जिनके कारण हमारे समाज की इतनी शोचनीय अवस्था हो गई है इस बात पर संक्षेप से इस अध्याय में प्रकाश डाला जाएगा। प्रत्येक सामाजिक बुराई पर विस्तार से विचार करना यहां असम्भव है इसलिये निम्न लिखित सात मुख्य बुराइयों और उनके इलाज पर आलोचना की जाएगी।

(१) जन्म सिद्ध जाति भेद (२) अस्पृश्यता (३) बाल विवाह (४) स्त्री शिक्षा का अभाव (५) विवेक रहित अपात्रों में दान (६) समाज हित के भावों की कमी (७) रीति रिवाज़ों की गुलामी। इनमें से एक २ को लेकर हम संक्षेप से यहां विचार करेंगे।

(१) जाति-भेद

द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ अध्याय में शास्त्रीय वर्ण व्यवस्था पर धार्मिक सामाजिक ऐतिहासिक और तुलनात्मक दृष्टि से पर्याप्त विस्तृत विचार किया जा चुका है। उस विवेचना से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि वर्तमान जन्म सिद्ध जाति भेद शास्त्रानुमोदित नहीं। वह वर्णव्यवस्था का एक अत्यन्त बिगड़ा हुआ रूप है जो वर्णव्यवस्था के तत्व तक से टक्कर खाता है। यह जन्मानुसार जातिभेद कब से प्रचलित हुआ यह निश्चय के साथ नहीं कहा जा सकता। जैसा कि तृतीय अध्याय में दिखाया जा चुका है। महाभारत के समय यद्यपि सिद्धान्तरूप से इसे नहीं माना जाता था तथापि क्रियात्मक व्यवहार में बहुत कुछ इसे स्वीकार किया जाता था। महाभारत के पश्चात् के अन्धकार युग में इसका विशेष प्रचार हुआ। ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र ये चार वर्ण जिनका आधार गुण, कर्म, स्वभाव पर था उस समय जातियां बन गईं और उनका आधार जन्म पर माना जाने लगा! बहुत देर तक ये चार वा पांच जातियां ही रहीं, पर जन्म सिद्ध ऊंच नीच के भाव के प्रवेश करते हुए स्वभावतः एक २ जाति का सैंकड़ों उपजातियों में विभाग हो गया। हज़ारों छोटे २ वर्ग बन गये और अपनी उच्चता प्रकट करने के लिये उन्होंने अन्य उपजातियों से खाने पीने और विवाह के सम्बन्धों को तोड़ डाला। अपनी २ जाति का बड़प्पन सिद्ध करने के लिये ऋषि मुनियों के नाम से झूठ मूठ कहानियां गढ़ीं और उनका खूब प्रचार किया। कई बार ऐसा भी हुआ कि उत्तर देश के कुछ लोग दक्षिण में जाकर बस गये, उन्होंने अवसर से लाभ उठाकर अपने को किसी उच्च कुल का ब्राह्मण प्रसिद्ध कर दिया और उनके वंशज उसी ब्राह्मण कुल के कहलाने लगे, चाहे वे शुरू में शूद्र वंश के ही थे। ख़ैर किसी को उनके मूल उद्भव (origin) का पता भी क्या लग सकता था। परमेश्वर ने ब्राह्मणों को शूद्रों से भिन्न करने के लिये तीन आखें, चार

मुख और सींग तो नहीं दे दिये थे। बहुत सी उपजातियां व्यवसाय वा वृत्ति (profession) में भेद के कारण बन गई, जैसे धोबी, नाई, चमार, जुलाहे, तेली इत्यादि। स्थान भेद के कारण गौड़ ब्राह्मण, सारस्वत, कान्यकुब्ज, सरयूपारीण इत्यादि अनेक उपजातियों की रचना हो गई। सम्प्रदाय भेद के कारण भी अनेक उपजातियां बन गई यथा लिङ्गायत शैव, वैष्णव, पेय्यर, ऐयङ्गर इत्यादि। कुछ जातियां रीति रिवाजों में भेद के कारण हो गई। इस तरह पता चलता है कि जातिभेद जो वर्तमान समय में प्रचलित है उसकी आधार शिला बिल्कुल बोदी है। इतिहास इस बात की साक्षी है कि नई से नई जातियों, उपजातियों का निर्माण हिन्दू जाति में लगभग गत १½ हज़ार वर्ष के अर्से से होता रहा है और अब तक भी यह सिलसिला बिल्कुल बन्द नहीं हुआ। इसके कारण हिन्दु जाति अत्यन्त असंगठित हो गई है, इसकी संघशक्ति बिल्कुल नष्ट सी हो गई है। अपने को उच्च और दूसरों को नीच समझने का भाव हरेक जाति के लोगों के अन्दर समा गया है, यहां तक कि जिनको अछूत समझा जाता है उनके अन्दर भी सैंकड़ों उपजातियां पाई जाती हैं जिनके अन्दर रोटी बेटी के सम्बन्ध नहीं हो सकते। इस जातिभेद के कारण हिन्दुओं का धर्म केवल रसोई का धर्म (Kitchen Religion) रह गया है। अपनी जाति के अन्दर रहता हुआ कोई कितना भी व्यभिचार करे, मद्य मांसादि का छिप २ कर सेवन करे, जुआ खेले और दूसरी बुरी आदतें डाल ले, उसे कोई, जाति से भ्रष्ट नहीं कर सकता, पर यदि कोई पूर्ण सदाचारी पुरुष भी खुले तौर पर अन्य जाति के लोगों के विशेषतः अछूत समझे जाने वाले भाइयों के साथ एक ही पंक्ति अथवा सामने की कतार में बैठकर भी भोजन कर ले तो झट दूसरे ही दिन उस जाति के स्वामियों की तरफ़ से उसे जातिभ्रष्ट कर दिया जाता है। दक्षिण भारत में जातिभेद का यह भूत बड़े २ सुशिक्षित अंग्रेज़ी पढ़े लिखे वकीलों और जजों तक के

दिमाग़ पर ऐसा सवार है कि इसकी ख़राबियों को जानते हुए भी उनमें से बहुत से इसके विरुद्ध व्यवहार करने को बिल्कुल तय्यार नहीं। जब तक जन्म से ऊंच नीच का भाव हमारे समाज और देश में प्रचलित है तबतक इसका पूर्णतया संगठित होना असम्भव है। दक्षिण की अब्राह्मण लोगों की जस्टिसपार्टी (Justice Party) स्वराज्यादि सब आन्दोलनों का इसी आधार पर विरोध करती रही है कि स्वराज्य का अर्थ वस्तुतः ब्राह्मणों का राज्य होगा जिसमें अब्राह्मणों पर बड़ा अत्याचार किया जाएगा। ब्राह्मणों अब्राह्मणों के इन झगड़ों के होते हुए शीघ्र स्वराज्य प्राप्त करने की आशा करना कठिन सा ही प्रतीत होता है।

इस सामाजिक बुराई का इलाज हमारे विचार में शास्त्रीय वर्ण व्यवस्था के भावों का प्रचार करना तथा सार्वजनिक भ्रातृत्व और समानता के उच्चसिद्धान्तों का धर्म के आधार पर सर्व साधारण के सामने लाना है। जिन लोगों को सचमुच यह विश्वास हो गया है कि प्रचलित जन्म सिद्ध जातिभेद सर्वथा कपोलकल्पित और वेदादि विरुद्ध है उन्हें जान बूझ कर कल्पित जाति नियमों को तोड़ना चाहिये और ऐसा करने पर समाज की तरफ़ से जो कोई अत्याचार उन पर किये जाएं उन्हें ख़ुशी से सहन करने को तय्यार रहना चाहिये। मिश्र-भोजन (Interdining) और अन्तर्जातीय विवाह सम्बन्धी जो प्रतिबन्ध कल्पित जातिनियमों में रक्खे जाते हैं उन्हें खुल्लमखुल्ला तोड़ने का दृढ़ निश्चय करना चाहिये, पर इस के साथ ही मद्य मांस सेवन तथा अन्य सब व्यसनों से रहित पवित्र जीवन व्यतीत करना उन के लिये आवश्यक होगा ताकि उनका वैयक्तिक जीवन अन्यों के लिये आदर्श हो सके। ऐसा साहस करने वालों की संख्या जितनी ही बढ़ेगी उतनी ही मात्रा में जाति भेद का भूत भागता जाएगा।

(२) अस्पृश्यता का रोग

जन्मसिद्ध जाति भेद का ही एक फल यह अस्पृश्यता वा अछूतपन

का रोग है। वेद में सर्वत्र ४ ही वर्णों का वर्णन है। मनुस्मृति में भी चार वर्ण बताते हुए 'नास्ति तु पञ्चमः।' कोई पञ्चमवर्ण नहीं है ऐसा अ० १० श्लो० ४ में स्पष्ट ही कह दिया है। वेद में पञ्चजन शब्द का कई स्थानों पर प्रयोग पाया जाता है पर उसके दो अर्थ हैं। एक तो शूद्रों के 'सच्छूद्र' 'असच्छूद्र' ऐसे दो भेद करने पर मनुष्य समाज के पांच विभाग कहे जा सकते हैं अथवा जैसा कि यास्क मुनि कृत निरुक्त में बताया गया है पञ्चजन से तात्पर्य ४ वर्णों और निषाद अथवा जंगली से है।

'निषण्णमस्मिन् पापकम्।' निरु० ३ । २ । ५ ॥

जिसके अन्दर पाप मानो जमा हुआ हो ऐसे पापी पुरुष को भी 'निषाद' के नाम से कहा जा सकता है चाहे उसका जन्म किसी भी कुल में हुआ हो। वेद में पञ्चजनों का मिल कर भगवान् की स्तुति और अग्नि होत्र करने का विधान है। उदाहरणार्थ निरुक्त में ही ऋग्वेद १०। ५३।४ का निम्नलिखित मन्त्र उद्धृत किया गया है।

"तदद्य वाचः प्रथमं मंसीय येनासुराँ अभि देवा असाम।
ऊर्जाद उत यज्ञियासः पञ्चजना मम होत्रं जुषध्वम् ॥"

इस मन्त्र का भावार्थ यह है कि जिस श्रेष्ठ वेद वाणी के द्वारा देव लोग असुरों पर विजय प्राप्त करते हैं उसी वाणी के द्वारा उत्तम अन्न का सेवन करते हुए और यज्ञिय अर्थात् पवित्र बनते हुए हे पञ्चजनो! सबके सब मनुष्यों तुम परमेश्वर की स्तुति करो। पञ्चजन के अन्दर यदि पञ्चमवर्ण की थोड़ी देर के लिये कल्पना मान भी ली जाए तो भी इस प्रकार पांचों वर्णों को मिल कर भगवान् की स्तुति करनी चाहिये। यह वैदिक आदेश बताता है कि किसी वर्ण को अस्पृश्य न मानना चाहिये। हमें सब प्राणियों को मित्र की दृष्टि से देखना चाहिये, जो सब प्राणियों में परमात्मा को और परमात्मा को सब प्राणियों में देखता है वह कभी किसी से घृणा नहीं करता।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे ।
(यजु० ३६।१८)

यस्तु सर्वाणि भूतान्यात्मन्नेवानु पश्यति ।
सर्वभूतेषु चात्मानं ततो न विजुगुप्सते ॥
(यजु० ४० । ६)

ऐसा विधान करने वाले वेदों में अस्पृश्यता के लिये कोई भी आधार पाया जाता है यह कहने का किसी कट्टर से कट्टर सनातन धर्मी तक ने साहस नहीं किया। कुछ अर्वाचीन स्मृतियों के प्रमाण पेश कर दिये जाते हैं जिनके विषय में यहां इतना ही कहना पर्याप्त है कि वेद विरुद्ध होने के कारण वे इस विषय में अमान्य हैं, साथ ही स्मृतियों में जिन लोगों के साथ सामाजिक व्यवहार का निषेध किया गया है उनकी कोई विशेष जाति नहीं पर वे ऐसे लोग हैं जिनका उपनयनादि संस्कार २४ वर्ष तक भी नहीं हुआ और जो सदाचार से च्युत हो गये हैं। उदाहरणार्थ चाण्डाल का लक्षण करते हुए अत्रि स्मृति में कहा है।

क्रियाहीनश्च मूर्खश्च, सर्वधर्मविवर्जितः ।
निर्दयः सर्वभूतेषु, विप्रश्चाण्डाल उच्यते ॥

अर्थात् वह ब्राह्मण कुलोत्पन्न पुरुष भी जो यज्ञादि क्रिया रहित मूर्ख अधार्मिक और भूतदया से रहित है उसीको चाण्डाल कहते हैं। मनु ने भी निम्न श्लोक से उपर्युक्त बात का ही निर्देश किया है।

अनार्यता निष्ठुरता, क्रूरता निष्क्रियात्मता ।
पुरुषं व्यञ्जयन्तीह, लोके कलुषयोनिजम् ॥
मनु० १० । ५८ ॥

यहां यह बात ध्यान में रखनी चाहिये कि समाज को सुरक्षित रखने के लिये और अधार्मिकों को पुनः धर्म के मार्ग पर लाने के लिये शास्त्र-

कारों ने सामाजिक बहिष्कार के साधन को कुछ समय के लिये काम में लाने की आज्ञा दी थी। इस प्रकार के बहिष्कृत पुरुषों को भी फिर प्रायश्चित्त कराकर शुद्ध कर लिया जाता था और उनकी सन्तान को पतित नहीं समझा जाता था। जैसे कि पहले दिखाया जा चुका है।

"जातो व्यासस्तु कैवर्त्याः श्वपाक्याश्च पराशरः॥"

इत्यादि पुराणों के श्लोकों के अनुसार व्यास मुनि के पिता पराशर एक चाण्डाली स्त्री के और स्वयं व्यास एक मल्लाह की लड़की के पुत्र थे। पर उन दोनों को कोई भी अस्पृश्य नहीं समझता। ऐसे ही अन्य सैंकड़ों उदाहरण मतङ्ग ऋषि इत्यादि के प्रस्तुत किये जा सकते हैं। इसलिये अस्पृश्यता के वेदादि सत्य-शास्त्र विरुद्ध होने में सन्देह नहीं।

वर्तमान समय में भी अस्पृश्य कहलाने वाले लोगों के गोत्र और उनकी उपजातियों के नाम देखने से पता लगता है कि इन में से बहुतों का सम्बन्ध द्विजों के उच्च कुलों से है। उदाहरण के तौर पर इन में से कइयों के विश्वामित्र काश्यपादि गोत्र हैं। गुजरात, बम्बई की तरफ़ के अस्पृश्यों की अभी तक भी गायकवाड़, त्रिभुवन, भोंसले यादव वा जादव, चौहान, काले, खरे, सोलंकी प्रमार आदि जातियां हैं। यह स्पष्ट है कि इन में से चौहान, प्रमार, सोलंकी इत्यादि राजपूतों की जातियोंसे ही इन का किसीकारण से पतन हुआ था। ऐसा प्रायः अब माना जाता है कि युद्ध में हारे हुए सैनिकों को मुसल्मान विजेता ज़बर्दस्ती भङ्गी इत्यादि के कामों में लगा लिया करते थे। ख़ैर अस्पृश्यता की उत्पत्ति कैसे भी हुई हो इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि इस का परिणाम आर्यजाति के लिये बड़ा ही हानिकारक हुआ है। भारत की जनसंख्या को देखने से पता लगता है कि सन् १८८१ में जहां हिन्दुओं की संख्या कुल आबादी में ७४ प्रतिशतक थी वहां १९११ में वह बढ़ने के स्थान में ५ प्रतिशतक घट कर ६९ प्रतिशतक रह गई और १९२१ में १ फ़ी सदी और घट कर संख्या ६८

प्रतिशतक ही रह गई। यह घटती कैसे हुई इस के विषय में ज़्यादह विचार करने की अवश्यकता नहीं। जिन लोगों को अछूत मान कर हिन्दू लोग कुत्ते बिल्लियों से भी बुरा व्यवहार करते हैं, दक्षिण भारत के ब्राह्मण जिन की दृष्टि से भी अपने तथा अपने देवी देवताओं को भ्रष्ट मानते और आम सड़कों पर चलने तक के अधिकार से कई स्थानों पर उन्हें वञ्चित रखते हैं वही लोग ईसाई पादरियों के चङ्गुल में फँस जाते हैं और तब बड़े२ टीकाधरी पण्डितों से भी निःसंकोच हाथ मिलाने का अधिकार पा लेते हैं। अस्पृश्य जातियों के ईसा मूसा के नाम तक को न जानते हुए ईसाई मत की शरण में जाने या Conversion का यह सिल सिला दक्षिण भारत में अभी तक चल रहा है यद्यपि आर्यसमाजादि के यत्नों से उसका ज़ोर अब बहुत कम हो गया है। हमारे हिन्दु भाइयों की यही मूर्खता नहीं तो क्या है कि जबतक एक व्यक्ति राम, कृष्ण और हिन्दू देवी देवताओं को मानने और चोटी धारण करने वाला गोरक्षक हो तबतक तो उसे अछूत कहकर उसे दो फ़र्लांग के अन्दर आने की आज्ञा न दें और जब वही आदमी चोटी कटवा कर मुसल्मान या ईसाई हो जाए तब उस के साथ खुशी से हाथ मिला लें। यह वस्तुतः आत्मघातक प्रथा है इसका जितनी जल्दी हो सके अन्त करना चाहिये। भारत के प्रसिद्ध विद्वान् और देशभक्त लोकमान्य तिलकने १९१८में अखिलभारतीय हरिजन उद्धार सम्मेलन(All India Depressed Class Mission Conference) में भाषण करते हुए ठीक कहा था कि "It is a sin against God to say that a person is untouchable." अर्थात्, यह कहना कि एक आदमी अस्पृश्य है भगवान् के विरुद्ध एक पाप करना है क्योंकि वह भी भगवान् का ही पुत्र है *। ब्राह्मणों तथा उच्च जाति के लोगों का यह कर्तव्य है कि इन अस्पृश्य

* देखो Anti-untouchability Compaign—the Report of the Depressed Class Mission Conference held in Bombay 1918 under the presidency of the Gaekwarh the Maharaja of Baroda.

कहलाने वाले भाइयों के अन्दर अपवित्रता, मद्य मांस सेवनादि जो बुरे दोष आगये हैं उन को पहिले दूर करने का यत्न करें। उनके बालकों की शिक्षा और आर्थिक उन्नति के लिये प्रयत्न करें उन्हें ईश्वर भजन इत्यादि की आदतें डालने को कहें, ऐसा प्रेमपूर्वक करने से निश्चय है कि कुछ ही वर्षों में अस्पृश्यता का रोग हमारे समाज से उठ जाएगा। यदि सौ दो सौ आदमियों को इस तरह अस्पृश्य समझकर हमारे हिन्दु समाज ने अलग कर दिया होता तो भी कोई बड़ी चिन्ता की बात न थी, पर जब इस बात को ख्याल में रखते हैं कि इनकी संख्या ५॥ करोड़ से कम नहीं तो हमें इस अस्पृश्यता की भारी सामाजिक बुराई को दूर किये बिना हिन्दु समाज का भविष्य बड़ा ही अन्धकार पूर्ण दिखाई देता है। जो समाज अपने पैरों को खुद ही परे काट कर फैंक दे वह कैसे देर तक सुख पूर्वक जी सकता है। अपने ही भाइयों को सदा के लिये दासता की जंजीरों में बांध कर रखने में जो समाज लज्जित नहीं होता वह किस मुख से स्वराज्य का नाम ले सकता है ? इस लिये धार्मिक सामाजिक राजनैतिक प्रत्येक दृष्टि से समाज संरक्षण के लिये अस्पृश्यता के कलङ्क को दूर करना हमारा आवश्यक कर्तव्य है। अच्छी संगति में न रहने और धार्मिक शिक्षा के नितान्त अभाव से जो दुर्व्यसन इन दलित जातियों के अन्दर कई सदियों से आगये हैं उस के लिये भी उच्च जात्यभिमानी लोग ही ज़िम्मेवार हैं। दलितोद्धार के कार्य में पर्याप्त सफलता जो उत्तर भारत में प्राप्त हुई है वह इस बात का प्रमाण है कि कुछ ही वर्षों में ये लोग सब बातों में उच्च जातियों के लोगों का मुकाबला करने में समर्थ हो जाएंगे और तब हमारा समाज भी अबकी अपेक्षा अधिक दृढ़ बन जाएगा नहीं तो मुसल्मान और ईसाई इन्हें हड़प कर जाएंगे।

(३) पात्रापात्र-विवेकहीन दान

तीसरी बड़ी भारी सामाजिक बुराई जो भारतीय समाज में प्रचलित

है वह पात्रापात्र का विवेक किये बिना दान करने और धन का दुरुपयोग करने की है। भारत में दान करने वालों की कमी नहीं है। भिखमंगों को पालने के लिये हज़ारों धर्मशालाएं बन चुकी हैं और बनती जा रही हैं। दिन रात खाना पीना और सोना यही जिन का काम है ऐसे साधु नाम को कलङ्कित करने वाले भिखमङ्गों का पेट भरने के लिये भारत के दानवीरों की थैलियों का मुंह खुला रहता है, पर राष्ट्रीय संस्थाओं को दान करते समय १०, १५ रु० से अधिक निकालते हुए उन्हें संकोच होता है। शिव और विष्णु के मन्दिरों के निर्माण करने में लाखों रु० खर्च करते हुए इन दानवीरों को कुछ अनुभव नहीं होता, पर राष्ट्रीय विद्यालय अनाथायल ब्रह्मचर्याश्रमादि में दान देने के लिये कहें तो कोरा जवाब दे देते हैं कि हमारी सहानुभूति नहीं। भारत के सभी भागों में महन्त लोग लाखों करोड़ों रु० की आमदनी के मन्दिरों के स्वामी बने बैठे हैं पर वह सारा धन सिवाय ब्राह्मणों को प्रीति भोज खिलाने के, किसी परोपकार के कार्य में प्रायः ख़र्च नहीं होता। राष्ट्रीय कार्य कर्ताओं को सदा धन के अभाव की शिकायत रहती है। हिन्दुओं के तो जीवन भर की कमाई विवाह के अवसर के लिये और नाच तमाशों में ख़राब करने के वास्ते रहती है। यह अवस्था अत्यन्त शोचनीय है। जातीय धन इस प्रकार दिन प्रतिदिन नष्ट हो रहा है। आवश्यकता इस बात की है कि लोगों को सत्पात्र, देश, काल का विचार करके दान देने का निरन्तर उपदेश दिया जाए तब किसी राष्ट्रीय संस्था को धनाभाव की शिकायत न रहेगी क्योंकि भारत में धनियों की और दानियों की कमी नहीं है। दान कहां करना चाहिये इस बात को जानने वालों की कमी है।

(४) बाल विवाह

प्राचीन आश्रम व्यवस्था के अनुसार प्रत्येक पुरुष को कम से कम २५ वर्ष और प्रत्येक कन्या को कम से कम १६ वर्ष पर्यन्त ब्रह्मचर्य व्रत

का पालन करना होता था। इसी का यह फल था कि विधवाओं की संख्या प्राचीन भारत में बहुत ही थोड़ी थी। तृतीय अध्याय में अश्वपति राजा की जो कथा दी गई है उसमें अपने राष्ट्र की अवस्था का वर्णन करते हुए उसने यहां तक कहा है कि 'न मे राष्ट्रे विधवा' अर्थात् मेरे राज्य में एक भी विधवा नहीं है। ख़ैर यदि इसको अत्युक्ति भी मान लिया जाए तो भी यह बात साफ़ है कि विधवाओं की संख्या उस समय इतनी थोड़ी थी कि उसकी उपेक्षा की जा सकती थी। राम राज्य का वर्णन करते हुए वाल्मीकि रामायण युद्ध काण्ड सर्ग १३० श्लो० ९७ में 'न पर्यदेवन् विधवाः' और फिर १०० में 'न च वृद्धाःस्म बालानां प्रेत कर्माणि कुर्वते' ऐसा स्पष्ट कहा है जिससे मालूम होता है कि उस समय भी बाल्यावस्था में मृत्युओं की संख्या बिल्कुल नहीं के बराबर थी। इसका मुख्य कारण ब्रह्मचर्य का पालन था इस में सन्देह नहीं हो सकता। चरक संहिता में वैद्यक शास्त्र का यह सिद्धान्त साफ़ शब्दों में बताया गया है कि १६ वर्ष से कम की कन्या में २५ वर्ष से कम आयु का पुरुष यदि गर्भाधान करता है तो या तो गर्भ गिर जाता है या सन्तान शीघ्र मर जाती है, नहीं तो अत्यन्त दुर्बल होती है। *

इन नियमों का उल्लङ्घन करने से भारतीय समाज की जो अत्यन्त शोचनीय दशा हो गई है उसका वर्णन तक करते हुए हाथ कांपता है। विश्वास भी नहीं होता कि यहां तक भी पतित अवस्था हो सकती है, पर जो सच्ची घटनाएं गणनाओं द्वारा पता लग रही हैं उन पर कौन परदा डाल सकता है।

* ऊन षोडशवर्षायामप्राप्तः पञ्चविंशतिम्।
यद्याधत्ते पुमान् गर्भं, कुक्षिस्थः स विपद्यते॥
जातो वा न चिरं जीवेद्, जीवेद् वा दुर्बलेन्द्रियः॥
सुश्रुत, शारीर स्थान अ०. १०॥

१६२१ ईस्वी की जन संख्या के अनुसार भारत में बाल विधवाओं की संख्या निम्न प्रकार है।

१ वर्ष के अन्दर की विधवाएं	१ हज़ार
५ वर्ष के अन्दर की ,,	१५ हज़ार
५ से १० वर्ष तक की ,,	१ लाख
१० से १५ वर्ष तक की ,,	३ लाख
१५ से २० वर्ष तक की ,,	६ लाख

यह कितने शोक की बात है कि इस प्रकार की हानिकारक बाल विवाह की प्रथा अभी तक भारतीय समाज में प्रचलित है। छोटे २ बालक बालिकाओं को गुड्डे गुड्डियों की तरह पकड़ कर इकट्ठा जोड़ दिया जाता है, वेद मन्त्रों का तमाशा या विवाह संस्कार का स्वांग सा रच दिया जाता है, प्रतिज्ञा मन्त्र भी दोनों पक्षों के पुरोहित पढ़ देते हैं मानो उन दोनों का परस्पर विवाह हो रहा हो, वे स्वयं भी उनका अर्थ नहीं जानते, पर बस यह स्वांग रच कर आशा की जाती है कि घर शान्तिमय हो जाएगा। यह हो कैसे सकता है? अब शिक्षा और कानून के कारण उतनी छोटी उमर में विवाह नहीं होते तो भी कन्याओं का १२ वर्ष के अन्दर २ विवाह करा देना कल्पित धार्मिक जातिनियमों के अनुसार विशेषतः ब्राह्मणों में आवश्यक समझा जाता है। बालकों का भी १८, २० या २२ की आयु तक विवाह कर दिया जाता है, जब कि उनमें से बहुत से अभी स्कूल या कालेज में शिक्षा ग्रहण कर रहे होते हैं। जिन दो को पति पत्नी रूप से जीवन संगी बन करके रहना है उन्हें संस्कार से पूर्व एक दूसरे को देखने तथा बातचीत तक करने का सिर्फ़ अवसर ही नहीं दिया जाता, यही नहीं बल्कि कोई ऐसा करने का यत्न भी करे तो सब उसके विरुद्ध खड़े हो जाते हैं। उसपर भी तमाशा यह कि यदि दो चार पांच या १० वर्ष तक की भी कोई कन्या विधवा हो जाए पूर्व इसके कि उसे बोलना तक आता

हो, वा पति किसे कहते हैं ? विवाह क्या होता है ? यह उसे पता तक हो वह सदा के लिये कुमारी रहने को बाधित की जाती है। जिस समाज में ऐसी निकम्मी प्रथाएं धर्म के नाम पर प्रचलित हों और पढ़े लिखे समझदार आदमियों को भी उनके आगे अपना सिर झुकाना पड़े उस के भविष्य को कौन उज्ज्वल बता सकता है ? बस इस विषय में अधिक लिखना व्यर्थ है। बाल्यावस्था के अस्वयंवर विवाह की इस अत्यन्त हानिकारक प्रथा को एक दम निर्मूल करने का पूर्ण यत्न करना चाहिये। प्राचीन गुरुकुल शिक्षा प्रणाली को लोकप्रिय बनाना चाहिये। सुशिक्षित विचारशील युवक पुरुष और युवती कन्याओं की अपनी इच्छा पर ही मुख्यतः माता पिता को विवाह सम्बन्ध निश्चय का विषय छोड़ देना चाहिये ऐसा करने से विधवाओं की संख्या एक तो बहुत ही कम हो जाएगी और यदि दुर्भाग्य से कोई विवाह संस्कार के दो एक वर्ष पीछे बिना सन्तान उत्पन्न किये विधवा हो भी जाए तो इच्छा होने पर उसे पुनर्विवाह की अवश्य आज्ञा होनी चाहिये यही शास्त्रीय मर्यादा है। इस समय की पद्धति का आधार केवल रीति रिवाज है शास्त्रीय आज्ञा नहीं जैसा कि द्वितीय अध्याय में संक्षेप से दिखाया जा चुका है।

(५) योग्य स्त्री शिक्षा का अभाव

ऊपर जिस सामाजिक बुराई का वर्णन किया गया है स्त्री शिक्षा के अभाव का भी मुख्य कारण वही है। ७, ८ साल की कन्या अभी होने नहीं पाती कि उसके माता पिता को विवाह की चिन्ता दिन रात सताने लगती है। लड़की के भी कानों में विवाह विषयक शब्द लगातार पड़ते रहते हैं। बस फिर उसने शिक्षा क्या प्राप्त करनी है। घर में बुहारी लगाना, भांडे मांजना और रसोई पकाना ये ही तो उसके काम हैं फिर उसे पढ़ाने लिखाने की ज़रूरत भी तो क्या है ? ऐसा माता पिता सोचते हैं। भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति पर हम किसी दूसरे अध्याय में

विचार करेंगे यहां यह हर्ष की बात है कि श्रीयुत हरविलास शारदा के विशेष प्रयत्न और विचार शील सज्जनों के सहयोग से एप्रिल १९३० में बालविवाह निषेधक क़ानून 'शारदा ऐक्ट' के नाम से जारी हो चुका है यद्यपि विदेशी सर्कार ने उसके उपयोग में बहुत ही अक्षन्तव्य उपेक्षा दिखाकर अपनी समाज सुधार विषयक अयथार्थता (Insincerity) का परिचय दिया है। हमारे विचार में ऐसे अत्यन्त उपयोगी सामाजिक विषयों में क़ानून बनाना सर्वथा उचित है क्योंकि बाल विवाह जैसी प्रथा से न केवल समाज की, बल्कि राष्ट्र की भी विशेष हानि होती है इस विषय में २१ सितम्बर १९२९ को डा० रवीन्द्रनाथ ठाकुर ने जो विचार प्रकट किया है हम उसके अधिकांश से सहमत हैं। उनके शब्द ये थे।

"I strongly support Rai Saheb Har Bilas Sharda's marriage Bill. The minimum age for marriage of girls should be 16 while that of boys should be 22. The only means to remedy the evil lies in the legislatures, particularly in view of the lethargic tendency of the people in social matters"

"अर्थात् मैं शारदा जी के बिल का प्रबल समर्थन करता हूं इस परिवर्तन के साथ कि कन्याओं की आयु विवाह के समय कम से कम १६ वर्ष और पुरुषों की २२ वर्ष होनी चाहिये (शारदा ऐक्ट के अनुसार वह आयु क्रमशः १४ और १८ है) क्योंकि साधारण लोग सामाजिक विषयों में बहुत आलस्य दिखाते हैं इसलिये ऐसी बुराइयों के दूर करने का मुख्य साधन क़ानून बनाना ही है।" हमारी सम्मति में पुरुषों के लिये विवाह की आयु कम से कम २४ होनी चाहिये। देश हितैषी शासकों का कर्तव्य है कि इस क़ानून का भंग करनेवालों को योग्य दण्ड देकर इसे अच्छी

तरह काम में लाएं। यहाँ केवल इतना ही लिखना पर्याप्त है कि विवाह का उद्देश्य क्या है ? पति पत्नी का क्या सम्बन्ध होना चाहिये ? इन बातों को न समझने के कारण ही ऐसे अशुद्ध विचार लोगों के दिल में उत्पन्न होते हैं। शास्त्रों में सब जगह पत्नी को सहधर्मिणी अथवा सह धर्मचारिणी कहा गया है जिसका अर्थ यह है कि पति के प्रत्येक शुभ कार्य में सहायता देना उसका मुख्य धर्म है। वेद में पत्नी के लिये 'अनुव्रता' या 'पत्युरनुव्रता' यह विशेषण बार २ प्रयुक्त हुआ है जो ऊपर लिखे हुए भाव का ही समर्थन करने वाला है। 'सम्राज्ञी श्वशुरे भव' इत्यादि मन्त्रों द्वारा वेद पत्नी को सम्राज्ञी बनने का अधिकार और आदेश करता है। क्या स्त्री बिना उत्तम शिक्षा प्राप्त किये अपने इन कर्त्तव्यों और अधिकारों को समझ सकती है ? कभी नहीं। अशिक्षित माताएं पुत्रों के प्रति अपने उत्तर दायित्व को और पतियों के प्रति अपने कर्त्तव्यों को बहुत ही कम समझती हैं इसलिये क्योंकि अशिक्षिता होने के कारण वे देश की अवस्था के विषय में सर्वथा अनभिज्ञ होती हैं। बालकों के अन्दर बाल्यावस्था में ही देश भक्ति के भावों को डालने में वे सर्वथा असमर्थ होती हैं। बालक बालिकाओं के सामने विवाह की बातें करने और बात २ में गालियां देने में क्या हानि है ? इस साधारण बात तक को वे नहीं समझ सकतीं। वे बेचारी करें भी तो क्या, विवाह व सगाई के अतिरिक्त किसी विषय पर वे मिलकर विचार भी तो नहीं कर सकतीं।

एक ओर जहां यह शोचनीय दशा है वहां दूसरी ओर पढ़ी लिखी, आज कल की सभ्यता प्राप्त अनेक स्त्रियों की अवस्था और भी अधिक शोचनीय है। उनके अन्दर देश भक्ति के भाव तो थोड़े बहुत पाये जाते होंगे पर क्रियात्मक जीवन में उनमें से बहुत सी फ़ैशनों की दासियां बन जाती हैं। घर के काम काज करने की अपेक्षा कुर्सियों पर बैठकर समाचार पत्र पढ़ने में ही उनकी अधिक रुचि होती है। इसमें दोष आज कल

की शिक्षा पद्धति का है न कि स्वयं शिक्षा का। सच्ची बात तो यह है कि इस समय तक भारत में स्त्री शिक्षा का आदर्श किसी संस्था द्वारा पूर्ण रूप से रखा ही नहीं जा सका इसी लिये कई लोगों को यह कहते हुए सुना जाता है कि स्त्रियों को अनपढ़ रखना ही अच्छा है। शिक्षा से वे बिगड़ जाती हैं। वस्तुतः जब धार्मिक देशभक्तियुक्त भाव कूट २ कर कन्याओं के अन्तःकरणों में भर दिये जाएंगे तभी स्त्री जाति का सुधार होकर समाज उन्नत हो सकेगा। इसलिये सारा यत्न स्त्रियों के लिये उपयुक्त शिक्षा दिलाने की तरफ़ होना चाहिये जिससे सच्ची देवियां उत्पन्न हो सकें ताकि गृहस्थियों के घर पूर्व काल की तरह सुखधाम बन सकें।

(६) समाज-सेवा के भावों की कमी

कोई भी समाज वा राष्ट्र तब तक उन्नत नहीं हो सकता, जब तक इसके सब सभ्यों के अन्दर यथा शक्ति समाज सेवा करने और राष्ट्रीय कार्य करने का भाव न पाया जाए। भारतीय समाज में अशिक्षितों की संख्या बहुत अधिक है। पुरुषों में केवल लगभग १० प्रति शतक और स्त्रियों में केवल १ प्रति शतक शिक्षित हैं। ऐसी अवस्था में अपने समाज और देश की वास्तविक दशा के साथ परिचय ही बहुत थोड़े लोगों का हो सकता है। शिक्षा के अभाव के अतिरिक्त जाति भेद के कारण भी लोगों की दृष्टि बड़ी संकुचित हो गई है। जो शिक्षा हमारे देश के विद्यालयों में आजकल दी जाती है उसमें भी समाज सेवा के भावों पर बहुत कम ज़ोर दिया जाता है। परिणाम यह होता है कि अपनी पढ़ाई समाप्त करने के पीछे विद्यार्थी या तो सर्कारी नौकरियों पर टूट पड़ते हैं और या वकालत अथवा इञ्जिनीयरिङ्ग की लाइन में जाकर मौज से अपनी आजीविका करते हैं। समाज सेवा करने का भाव इनमें से बहुत ही थोड़े इने गिने लोगों के अन्दर पाया जाता है। आज कल जातियों व उपजातियों की परिषदों या

कान्फ्रेन्सों की भरमार हो रही हैं जब किसी जगह अकाल पड़ता है बाढ़ आती है अथवा अन्य किसी तरह की आधिदैविक आपत्ति आती है तो सेवा के कार्य के लिये स्वयं सेवक पर्याप्त संख्या में नहीं निकलते। विशेषतः दलित भाइयों के अन्दर काम करने वालों की संख्या तो बहुत ही थोड़ी है। अब इस बात की विशेष आवश्यकता है कि देश वासियों का ध्यान वैयक्तिक धर्मों की अपेक्षा सामाजिक धर्मों की तरफ़ खास तौर पर खींचा जाए। जहां तक सम्भव हो स्कूलों में भी विद्यार्थियों को समाज सेवा के भाव पैदा करने वाली पुस्तकें पढ़ाई जाएं और ऐसे ही साहित्य को निरन्तर तय्यार कराया जाए।

(७) रीति रिवाज़ों की गुलामी

अन्त में जिस सामाजिक बुराई की ओर हम निर्देश करना अत्यावश्यक समझते हैं और जिसके कारण समाज सुधार के काम में सबसे अधिक बाधा पड़ रही है, वह भारतीय समाज के अन्दर रीतिरिवाज़ों की गुलामी है। यदि यह प्रश्न किया जाए कि समाज सुधारकों के सैंकड़ों यत्न करने पर भी जाति भेद, अस्पृश्यता, बालविवाहादि बुरी सामाजिक रीतियां क्यों प्रचलित हैं? क्या इन की बुराइयों से लोग परिचित नहीं हुए? तो इसके उत्तर में यही कहना पड़ेगा कि लोग प्रथाओं अथवा पुराने रीति रिवाज़ों के इतने दास बन चुके हैं कि उनके दोष जानते हुए भी वे उन्हें छोड़ने को तय्यार नहीं। सची बात तो यह है कि रीति रिवाजों ने ही भारतीय समाज में धर्म का स्थान ले लिया है। मालावार के नम्बूदरी ब्राह्मणों से जब पूछा गया कि अस्पृश्यों (Un-approachables) को सड़कों पर न चलने देने का क्या किसी शास्त्र में विधान है? यदि नहीं तो तुम क्यों ऐसा करते हो? उत्तर मिला कि बहुत देर से यही रीति चली आई है। फिर प्रश्न किया गया, अच्छा, ईसाई मुसल्मानों को उन

सड़कों पर से क्यों जाने देते हो जिन पर अपने ही अछूत भाइयों को चलने का अधिकार नहीं देते? उत्तर मिला यह भी बहुत देर से प्रथा चली आ रही है। बालविवाह, स्त्री शिक्षा का अभाव इत्यादि सामाजिक कुरीतियों के प्रचलित रहने का कारण भी मुख्यतः बाप दादों से आये हुए रीतिरिवाजों की दासता को छोड़कर और कुछ नहीं। अवस्था इस समय ऐसी विकट हो गई है कि एक समाज सुधारक युवक को कदम २ पर विरोध का सामना करना पड़ता है। कल्पना कीजिये उसकी विवाह योग्य आयु होती है, वह अपने लिये एक जीवन संगी को चुनना चाहता है। माता पिता उसके मार्ग में बाधा डालते हैं क्योंकि अभी तक वह काम माता, पिता वा नाई पुरोहितों का रहा है। सम्बन्ध के निश्चय से पूर्व युवक अपनी भावी सहधर्मिणी को मिलना चहता है ताकि उसके हार्दिक भावों से परिचित होकर वह भविष्य जीवन के लिये कोई आदर्श बना सके। माता पिता तथा सम्बन्धी उसकी इस इच्छा की पूर्ति में यही कह कर बाधा डालते हैं कि यह प्रचलित रीतिरिवाज़ के विरुद्ध है। बहुत बार ऐसा भी होता है यदि सम्बन्धी सुशिक्षित हों तो वे बेचारे साफ़ कह देते हैं कि हमें प्रचलित रीतिरिवाज़ बड़े फ़िजूल मालूम होते हैं और तुम जो नई बात करना चाहते हो उसमें वैयक्तिक रूप में हमें ज़रा भी आक्षेप नहीं, किन्तु सर्व साधारण की समालोचना का हमें भय है, इसलिये ऐसा काम नहीं करना अच्छा है। इस तरह एक २ कदम पर उस युवक को अपने निकट सम्बन्धियों तक से युद्ध करना पड़ता है जिसने किसी भी युक्तिविरुद्ध रीति रिवाज़ के आगे सिर न झुकाने का निश्चय किया हुआ हो।

अन्य भी अनेक सामाजिक बुराइयां भारतीय-समाज के अन्दर घर कर गई हैं किन्तु उन सब पर विचार करने से लेख विस्तार का भय है, अतः इस विषय में इतना ही लिखना यहां पर्याप्त समझा गया है। समाज सुधार के काम में आधी रुकावटें एक दम दूर हो जाएं, यदि लोगों के

अन्दर रीतिरिवाजों की दासता के स्थान में अपने दिमाग़ और ईश्वरप्रदत्त बुद्धि को काम में लाने की आदत डलवाई जाए। 'बाबा वाक्यं प्रमाणम्' अथवा 'ब्रह्मवाक्यं जनार्दन' के स्थान में यदि—

'आर्षं धर्मोपदेशं च, वेदशास्त्राविरोधिना।
यस्तर्केणानुसन्धत्ते, स धर्मं वेद नेतरः॥ *

इस मनु महाराज के वचन को व्यवहार का आदर्श बनाकर श्रद्धा पूर्वक तर्क द्वारा धर्म के अनुसन्धान करने का भारतीय लोग अभ्यास कर लें तो इस अध्याय में बताई हुई सामाजिक बुराइयों को दूर करना बड़ा ही सुगम हो जाए। जब तक जाति भेद, अस्पृश्यता, बाल विवाहादि की कुरीतियां भारतीय समाज की जड़ को खोखली करती रहेंगी तबतक केवल राजनैतिक आन्दोलनों से कुछ भी विशेष लाभ न हो सकेगा। इसलिये स्वाकर देश हितैषियों को इन कुप्रथाओं को जितना शीघ्र हो सके निर्मूल करने का यत्न करना चाहिये।

* ऋषियों के आचार और धर्मों के उपदेश की जो वेदशास्त्र का विरोध न करने वाले तर्क से आलोचना करता है वही धर्म को जान लेता है, दूसरा नहीं।

षष्ठ अध्याय

भारतीय और यूरोपीय सभ्यता

सभ्यता के विषय पर विचार करना भी समाज शास्त्र के विषयों में से एक है। Socialogy applied to Practical Politics नामक समाज-शास्त्र विषयक एक उत्तम ग्रन्थ के लेखक डा० क्रोज़ियर ने A Socialogical symposium शीर्षक वाले लेख के प्रारम्भ में लिखा है।

"Broadly speaking, socialogy may be defined as the science of General civilisation or of civilisation in general." P. 113.

"अर्थात् समाज शास्त्र का व्यापक लक्षण यह किया जा सकता है कि वह विज्ञान जो सभ्यता के सम्बन्ध में विचार करने वाला हो।" इसी लक्षण को लेते हुए हम इस अध्याय में भारतीय सभ्यता के विषय में कुछ तुलनात्मक विचार करना चाहते हैं। सबसे पूर्व हमें भारतीय सभ्यता के निम्न लिखित कुछ मुख्य तत्वों का निर्देश करना है।

(१) आर्य सभ्यता अथवा भारतीय सभ्यता का सबसे मुख्य तत्त्व परार्थ-भाव है। परोपकार, दान, अतिथिसत्कार तथा दूसरों के हित के लिये स्वार्थ को सर्वथा परित्याग करने पर जितना ज़ोर भारतीय सभ्यता देती है उतना कहीं भी नहीं दिया गया। वेद के 'केवलाघो भवति केवलादी' अर्थात्, अकेला धन का भोग करने वाला पुरुष धन का नहीं अपितु पाप का भोग करता है इस अत्युत्तम उपदेश को ही "अघं स केवलं भुङ्क्ते यः पचत्यात्मकारणात्" इस रूप में मनुस्मृति में और

"भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्" के रूप में भगवद् गीता में दुहराया गया है। प्राचीन सारे संस्कृत साहित्य में यदि कोई एक भाव ओत प्रोत कहा जा सकता है तो यही परोपकार का भाव है जिसमें सब प्रकार के स्वार्थ का परित्याग करके दूसरों के हित-सम्पादन करने का भाव मिला हुआ है।

(२) भारतीय सभ्यता का दूसरा मुख्य तत्त्व आवश्यकताओं को बहुत न बढ़ाते हुए जीवन को सादा और तपोमय बनाना है। प्रसिद्ध अंग्रेज़ तत्त्व ज्ञानी कवि वर्ड् स वर्थ के शब्दों में 'Plain living and high thinking' 'सादा जीवन और उच्च विचार' यही भारतीय सभ्यता का आदर्श है। यहां तक कि राजा लोगों को भी जिनका जीवन ही भोग विलास के लिये समझा जाता है वेदों और मनुस्मृति इत्यादि धर्मशास्त्रों में तपोमय जीवन व्यतीत करने का आदेश है।

'ब्रह्मचर्येण तपसा राजा राष्ट्रं विरक्षति'

यह अथर्व ११।५।१७ का वेद मन्त्र इस विषय में बार २ मनन करने योग्य है, जिसमें बताया है कि ब्रह्मचर्य अर्थात् आत्मसंयम, पवित्रतादि और तप के द्वारा ही राजा राष्ट्र की उत्तम रीति से रक्षा कर सकता है। इसी के अनुसार वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि जिस दिन श्री राम को अभिषेक दिया जाना था उससे पहली रात को पिता दशरथ ने रामचन्द्र को आदेश किया कि आज से तुम्हें शिला को तकिया बनाकर भूमि पर सोना होगा। तप को हमारी सभ्यता का कितना आवश्यक अङ्ग माना गया है यह इस उदाहरण से स्पष्ट जाना सा सकता है।

(३) भारतीय सभ्यता प्रत्येक समस्या पर मुख्यतः आत्मिक हित की दृष्टि से विचार करने को कहती है। सत्य, यश और श्री (ऐश्वर्य) में से सत्य का ही प्रथम स्थान है जिसकी रक्षा के लिये यश और ऐश्वर्य

का परित्याग करने में ज़रा भी संकोच न करना चाहिये, यह जो भाव 'सत्यं यशः श्रीर्मयि श्रीः श्रयताम्' इस वैदिक वाक्य में प्रकट किया गया है वह भारतीय सभ्यता का हृदय कहा जा सकता है। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, रामचन्द्र, शिवि, दधीचि, ऋषि दयानन्द इत्यादि के पवित्र जीवन हमारे सामने भारतीय सभ्यता के इसी तत्त्व को उपस्थित करते हैं।

रघुकुल रीति सदा चलि आई।
प्राण जाइ वरु वचन न जाई॥

इन सुन्दर शब्दों में गोस्वामी तुलसीदासजी ने भारतीय सभ्यता के हृदय रूप इसी तत्त्व को रखा है। महाभारत में—

न जातु कामान्न भयान्न लोभाद् धर्मं त्यजेज्जीवितस्यापि हेतोः।
धर्मो नित्यः सुखदुःखे त्वनित्ये जीवो नित्यो हेतुरस्य त्वनित्यः॥

अर्थात् कभी किसी भी कारण से, प्राण जाते हों तो भी, धर्म को नहीं छोड़ना चाहिये यह कह कर इसी उत्कृष्ट तत्त्व का प्रतिपादन किया गया है।

(४) भारतीय सभ्यता का चतुर्थ मुख्य तत्त्व निष्काम भाव से शुभ कर्म करना है। भगवद् गीता के अन्दर इसी तत्त्व की विस्तृत व्याख्या है। कर्त्तव्य के भाव से प्रेरित हो कर कर्तव्य करना, न कि मान प्रशंसा प्राप्त करने के ख्याल से, यह भाव गीता के अन्दर आदि से अन्त तक समाता और पिरोया हुआ सा साफ़ नज़र आता है। आज कल हमारे देश के सुशिक्षित लोगों ने झूठे विज्ञापन देकर प्रसिद्धि प्राप्त करने का तरीका पाश्चात्यों से ही सीखा है इसमें कोई सन्देह नहीं हो सकता। झूठी विज्ञापनबाज़ी के अतिरिक्त थोड़ा बहुत सामाजिक वा राजनैतिक काम कर के दुनियां भर के सब समाचार पत्रों में तार खटकाने का जो तरीक़ा हमारे देश के शिक्षित लोगों विशेषतः नेताओं ने अख्त्यार कर लिया है वह

भी वस्तुतः भारतीय आर्य सभ्यता के तत्त्व के विरुद्ध और पश्चिम का ही अनुकरण है। किन्तु अब तो कहा जाता है कि विज्ञापन बाज़ी का ज़माना है। चार आना काम करके सारे संसार को जबतक यह न दिखाया जाए कि हमने एक रुपये का काम किया है तबतक काम नहीं चल सकता। भारतीय सभ्यता के अभिमानियों को चाहिये कि इन प्रलोभनों से बचने का यत्न करें।

भारतीय सभ्यता हमें अपने जीवन को यज्ञरूप बनाने का पाठ सिखाती है। जब प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन को यज्ञमय बनाता हुआ समाज और राष्ट्र के हित में लगाना प्रारम्भ करेगा तभी देश का पुनरुत्थान हो सकेगा उससे पूर्व नहीं।

(५) भारतीय सभ्यता का, पांचवां तत्व स्वार्थ-रहित, जान बूझ कर ग़रीबी का जीवन व्यतीत करने वाले, सौम्य, तपस्वी ब्राह्मणों को समाज में सबसे ऊंचा स्थान दिलाना है। प्राचीन वर्णव्यवस्था का निष्कर्ष यही था कि सच्चे ब्राह्मण समाज के नेता हों। न्याय करने और कानून बनाने का अधिकार उनके हाथों में रहे। इस बात की व्याख्या वर्णव्यवस्था के प्रकरण में की जा चुकी है इसलिये फिर उसे यहां दोहराने की आवश्यकता नहीं।

(६) भारतीय सभ्यता प्राकृतिक उन्नति की उपेक्षा करती है अथवा उसमें आर्थिक और व्यावसायिक उन्नति को एक तरह से बिल्कुल भुला सा दिया जाता है ऐसा विचार कुछ यूरोपीय लेखकों ने फैलाया हुआ है। कई यूरोपीय विद्वान् तो स्वार्थ के भावों से प्रेरित होकर भारत के अध्यात्मवाद (Spirituality) की प्रशंसा करते हुए उसे अन्य विषयों की सर्वथा उपेक्षा करने का ही उपदेश दे गये हैं पर वास्तव में पक्षपातरहित होकर विचार किया जाए तो इस आशय की असत्यता पता लग सकती है। भारतीय सभ्यता का प्राण धर्म है। आध्यात्मिक

उन्नति की ओर भारतीय सभ्यता पुरुषों का ध्यान विशेष रूप से आकर्षित करना चाहती है पर साथ ही वह प्राकृतिक या लौकिक उन्नति को भी आवश्यक समझती है। जिस धर्म को हमने भारतीय सभ्यता का प्राण कहा है वह केवल आत्मा, परमात्मा, परलोक, और यज्ञ, याग विषयक चर्चा करने में ही समाप्त नहीं हो जाता वल्कि लौकिक अभ्युदय भी उसका आवश्यक भाग है जैसा कि वैशेषिक शास्त्रकार कणाद मुनि ने धर्म का लक्षण करते हुए बताया है।

यतोऽभ्युदयनिः श्रेयससिद्धिः सधर्मः।

अर्थात् धर्म वह है जिससे अभ्युदय वा लौकिक उत्कर्ष प्राप्त हो और मोक्षादि की सिद्धि हो सके। वेदों का थोड़ा बहुत स्वाध्याय करने वाले भी जानते हैं कि उनमें लौकिक उत्कर्ष को उचित स्थान दिया गया है।

'आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामा राष्ट्रे राजन्यः।
शूर इषव्योऽतिव्याधी महारथो जायताम्॥' यजु०॥

इत्यादि वेद मन्त्र इसी स्थापना को पुष्ट करने वाले हैं। रामायण, महाभारत काल का प्राचीन इतिहास देखने से भी स्पष्ट पता लगता है कि हमारे पूर्वज आर्यों ने न केवल आध्यात्मिक विषयों में बल्कि लौकिक विषयों में भी आश्चर्य जनक उन्नति प्राप्त की हुई थी जिसके कुछ प्रमाणों का तृतीय अध्याय में निर्देश किया जा चुका है। यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है कि भारतीय सभ्यता प्रधानता आत्मिक उन्नति को देती है इसलिये वह ऐसी उन्नति की पक्षपोषक नहीं हो सकती जिसमें असत्य, बेइमानी वा छल कपटादि को काम में लाया गया हो। भारतीय सभ्यता केवल spiritualistic वा आध्यात्मिक नहीं है, पर हां, यूरोपीय सभ्यता के केवल प्राकृतिक वा naturalistic or materialistic होने में कोई सन्देह नहीं जैसा कि आगे बड़े २ प्रसिद्ध पाश्चात्य विद्वानों की ही साक्षियों से संक्षेप से दिखाया जाएगा।

(७) भारतीय सभ्यता अहिंसा, सत्य, तप, ब्रह्मचर्य इत्यादि नैतिक गुणों (Moral virtues) की शक्ति में बड़ा विश्वास रखती है इसीलिये उसमें सत्याग्रह के तत्व को बहुत ऊंचा स्थान दिया गया है।

यह सभ्यता यद्यपि कई विशेष अवस्थाओं में शारीरिक शक्ति का उपयोग करना और आत्म-रक्षा के लिये आततायियों की जान तक निकालना बुरा नहीं समझती तो भी जहां तक सम्भव हो शान्ति से काम निकालने का यह उपदेश अवश्य करती है। विशेषतः उच्चकोटि के धार्मिक लोगों के लिये तो यह सभ्यता निम्न प्रकार के सत्याग्रह के तत्वों को काम में लाने का आदेश करती है।

अक्रोधेन जयेत्क्रोधमसाधुं साधुना जयेत्।
जयेत्कदर्यं दानेन, जयेत्सत्येन चानृतम्॥

महाभारत, उद्योग पर्व।

और—

नहि वैरेण वैराणि, प्रशाम्यन्ति कदाचन।
अवैरेण तु शाम्यन्ति, एष धर्मः सनातनः॥

धम्मपद यमकवर्ग।

अर्थात् क्रोध को अक्रोध, दुष्ट को भलाई, कंजूस को दान और असत्यवादी को भी सत्य से जीतने का यत्न करना चाहिये। वैर की शान्ति वैर करने से नहीं बल्कि वैर न करने से ही हो सकती है। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि—'जैसे को तैसा' 'शठे शाठ्य समाचरेत्' या Tit for tat के नियम का ही यदि सब लोग पालन करते रहें तो समाज में शान्ति कभी स्थापित नहीं हो सकती। इसलिये भारतीय सभ्यता साधारण लोगों और विशेषतः क्षत्रियों को जहां उपर्युक्त साधारण व्यावहारिक नियम पालन करने को कहती है वहां संन्यासियों, ब्राह्मणों और अन्य भी उच्च धार्मिक जीवन व्यतीत करने की इच्छा रखने वाले

सज्जनों को बुराई के बदले भी भलाई और वैयक्तिक जीवन में यथा सम्भव अहिंसामय सत्याग्रह तत्व का पालन करने की यह शिक्षा देती है।

इस तरह संक्षेप से हमने भारतीय सभ्यता के मुख्य तत्वों का यहां निर्देश कर दिया है। इनका, वर्तमान केवल प्राकृतिक पाश्चात्य सभ्यता के साथ, जिन्हें वर्तमान समय के उच्चतम महापुरुष महात्मा गांधी ने अपने लेखों में नास्तिक सभ्यता (godless civilisation) का नाम दिया है, कितना विरोध है इस बात का केवल संकेत कर देना ही पर्याप्त होगा। संक्षेप से इन दोनों का भेद या विरोध यों दिखाया जा सकता है।

(१) भारतीय सभ्यता परार्थ भाव को प्रधानता देती है, पर यूरोपीय सभ्यता स्वार्थ भाव को। जहां तक अपने स्वार्थ में बाधा न पड़े वहां तक इसके अनुसार थोड़ा बहुत दूसरों का काम कर देने में हानि नहीं, किन्तु अपने स्वार्थ का सर्वथा परित्याग करते हुए परोपकारार्थ जीवन तक दे देना इसके अनुसार मूर्खता है।

(२) भारतीय सभ्यता जीवन को सादा और तपोमय बनाने को कहती है पर यूरोपीय सभ्यता उसे अधिक से अधिक विषम (complex) बनाना पसन्द करती है। आवश्यकताओं को खूब अच्छी तरह से बढ़ा कर उनकी तृप्ति के साधन पैदा करना यही सभ्यता का प्रयोजन है। ऊंचे दर्जे का रहन सहन अथवा High standard of living सीधे शब्दों में खूब डट बढ़कर शान से रहना यह सभ्यता का आवश्यक अङ्ग है। तप और सादगी जंगली लोगों के आदर्श हैं सभ्य पुरुषों के नहीं।

(३) भारतीय सभ्यता मुख्यतः आत्मिक हित की दृष्टि से सब समस्याओं और प्रश्नों पर विचार करने को कहती है। सत्य और धर्म ही उसके प्राण हैं। पाश्चात्य सभ्यता की दृष्टि में आत्मा, परमात्मा, परलोकादि

कोई चीज़ ही नहीं। जिस किसी तरीके से भी प्रतिष्ठा प्राप्त हो और आदमी शान से आजीविका कमाता हुआ रह सके, रहना चाहिये। सत्य यश और ऐश्वर्य का भारतीय सभ्यता में जो क्रम है उसको ठीक उलट कर पाश्चात्य सभ्यता, सबसे पहला दर्जा, ऐश्वर्य कमाने को, दूसरा, नाम हासिल करने को और तीसरा सत्य को उस हद तक जहां तक यह पहले दो की प्राप्ति में रुकावट न पैदा करे, देती है। सत्य रक्षा के लिये हरिश्चन्द्र रामादि के समान सांसारिक ऐश्वर्य सुख का परित्याग करना इसके अनुसार बेवकूफ़ी है।

(४) भारतीय सभ्यता निष्काम भाव से शुभ कर्म करने को कहती है। पाश्चात्य सभ्यता नित नये विज्ञापनबाज़ी के साधनों का आविष्कार करके सारी दुनियां में अपने नाम और काम का ढिंढोरा पिटाने में ही गौरव मानना सिखलाती है।

(५) भारतीय सभ्यता स्वार्थ रहित तपस्वी, सदाचारी ब्राह्मणों को समाज में सबसे ऊंचा स्थान दिलाना चाहती है, पर यूरोपीय सभ्यता बड़ी थैली वाले, कारख़ानों और बड़ी २ ज़मीन्दारियों तथा बैङ्कों के मालिकों और पूंजीपतियों (capitalists) के हाथ में सब शक्ति रखनी चाहती है। क्योंकि बेचारे ग़रीब विद्वानों का भी आख़िरकार आश्रय उन्हीं पर है। आज से कुछ समय पूर्व तक सारी शक्ति इन वैश्यों के हाथों में थी, यही बड़े २ दार्शनिकों को अपनी अङ्गुलियों पर नचाते थे, पर अब साम्यवादादि के प्रचार के कारण इङ्गलैन्ड में मज़दूर दल का राज्य हो गया है। मन्त्रिमण्डल इन्हीं मज़दूर दल के लोगों का बना हुआ है। सारी राजनैतिक शक्ति देश की अब श्रमियों के हाथों में आ गई है।

(६) भारतीय सभ्यता आध्यात्मिक उन्नति को प्राकृतिक उन्नति की अपेक्षा अधिक प्रधानता देती है यद्यपि वह दोनों को आवश्यक समझती है, पर वर्तमान यूरोपीय सभ्यता तो केवल प्राकृतिक है। आध्यात्मिक अंश

इसके अन्दर शून्य के बराबर है। जर्मनी के आजकल के सबसे बड़े दार्शनिक प्रो० आयकन ने "Can we still be Christians" नामक अपने प्रसिद्ध ग्रन्थ में इस प्राकृतिक सभ्यता का लक्षण निम्न शब्दों में किया है।

"Outward greatness with the inward pettiness, wealth and diversity of achievements with hollow emptiness of spirit—such is the mask of the merely naturalistic culture."

अर्थात् ऊपर का बड़प्पन और अन्दर निःसारता, ऊपर २ की बहुत सी वस्तुओं और धन की प्राप्ति, पर अन्दर आत्मिक खोखलापन यही केवल प्राकृतिक सभ्यता का मुख्य चिन्ह है। यह वही सभ्यता है जिस पर पाश्चात्य जगत् घमण्ड मारता है और जिसके चकाचौंध से प्रभावित होकर हमारे देश के शिक्षित युवक भी प्रशंसा के पुल बांधने में नहीं थकते। पाश्चात्य सभ्यता के विषय में यूरोप के अन्य विद्वानों की सम्मतियों का इसी अध्याय में आगे निर्देश करेंगे।

(७) भारतीय सभ्यता जिस सत्याग्रह के सिद्धान्त और आत्मिक शक्ति पर विश्वास करती है पाश्चात्य सभ्यता उस पर मखौल उड़ाती है। उसको तो अपनी मशीन-गनों और बन्दूकों पर ही ज़्यादह विश्वास है यद्यपि भारतीय सत्याग्रह आन्दोलनों में अनेक बार इनकी निःसारता अदम्य आत्मिक शक्ति और साहस के सामने सिद्ध हो चुकी है। गुरु का बाग, नागपुर जैसे सविनय आज्ञा भंग (Civil Disobedience Movement) इत्यादि के उदाहरण अभी हमारे सामने हैं जिन्हें कभी भुलाया नहीं जा सकता।

इस तरह भारतीय सभ्यता और यूरोपीय सभ्यता के मुख्य २ भेदों को भी दिखाया जा चुका अब उन महानुभावों के मत की थोड़ी सी

आलोचना करनी आवश्यक मालूम होती है जो पाश्चात्य सभ्यता और विशेषतः उसके आवश्यक अङ्ग व्यवसायवाद (Industrialism) का अवलम्बन किये बिना भारत की उन्नति नहीं हो सक्ती ऐसा कहते हैं। हम अपने शब्दों में इस विचार की आलोचना करना आवश्यक नहीं समझते। ऊपर जो पूर्वीय और पाश्चात्य सभ्यताओं की हमने अपने विचारानुसार तुलना की है उसीसे यह स्पष्ट मालूम हो सकता है कि प्राकृतिक और आत्मिक दोनों तरह की उन्नति को आवश्यक मानने वाली धर्म-प्राण भारतीय सभ्यता को छोड़कर केवल प्राकृतिक या नास्तिक सभ्यता का अन्धाधुन्धी से अनुसरण करना हमारे लिये हितकारक नहीं हो सकता। यहां हम कुछ ऐसे बड़े २ वैज्ञानिकों और दार्शनिकों की पाश्चात्य सभ्यता और व्यवसायवाद विषयक सम्मतियों को उद्धृत करेंगे जिनके लेख यूरोप में अच्छे प्रामाणिक समझे जाते हैं। ऐसे विद्वानों में से सबसे पहले इङ्गलैण्ड के प्रसिद्ध वैज्ञानिक प्रो० हक्सले का नाम हमारे सामने आता है। पाश्चात्य सभ्यता पर गम्भीरता से विचार करते हुए वैज्ञानिक शिरोमणि हक्सले कुछ निराशा सूचक आवाज़ में कहते हैं।

"Even the best of modern civilisations appears to me to exhibit a condition of mankind which neither embodies any worthy ideal nor even possesses the merit of stability. If there is no hope of a large improvement of the conditions of the greater part of the human family, I should hail the advent of some kindly comet which wanted sweep the whole affair away as a desirable consummation.'

"अर्थात् अच्छी से अच्छी आधुनिक सभ्यता भी मनुष्यों की एक ऐसी

दशा की सूचना देती है जिसके सामने न तो कोई उच्च आदर्श ही है और न स्थिरता। यदि मनुष्य जाति की बहु संख्या की अवस्था में किसी बड़े भारी परिवर्तन की आशा न हो तो मैं एक ऐसे दयालु धूम्रकेतु के आगमन का अभिनन्दन करूंगा जो आकर सारे जगत् का एक दम संहार करदे।"

प्रो० हक्सले के अनुसार वर्तमान व्यवसायवाद ही इस शोचनीय दशा का एक मुख्य करण है इस बात को उन्होंने दूसरे भाषण में स्पष्ट किया है। सारा लम्बा चौड़ा उद्धरण न देकर दो तीन आवश्यक वाक्यों का नीचे उल्लेख करना पर्याप्त होगा। वे कहते हैं।

"Any one who is aquainted with the state of the population of all great industrial centres, is aware that amidst a large body of that population there reigns supreme a condition in which.... men women and children are forced to crowd into dens wherein decency is abolished, in which the pleasures within reach are reduced to brutality and drunkenness, in which the pains accumulate at compound interest in the shape of disease and moral degradation etc."†

भावार्थ यह कि बड़े २ व्यावसायिक केन्द्रों की अवस्था से जो परिचित हैं वे जानते ही होंगे कि उनकी आबादी की बहुसंख्या में ऐसी अवस्था प्रायः बनी रहती है जिसमें स्त्री पुरुष बच्चे सब मिलकर काम करने को लाचार होते हैं और इसलिये उचित लज्जा तक नष्ट हो जाती है,

†"People of the Abyss" by Jack, London के पृ० ३१५ में से उद्धृत।

जहां खुशी, पाशविक वृत्ति और शराबी पन के रूप में आ जाती है और जहां कष्ट, बीमारी और दुराचार के रूप में परिणत हो जाते हैं इत्यादि।

प्रो० हेक्सले लन्डन और दूसरे व्यावसायिक केन्द्रों की दशा से यहां तक निराश हो गये हैं कि एक स्थान पर वे कहते हैं कि यदि मेरे सामने एक जंगली और क्रिश्चियन लन्डन के लोगों में से किसी एक के जीवन को पसन्द करने का विकल्प रखा जाए तो मैं जान बूझकर विवेकपूर्वक जंगली के जीवन को ही पसन्द करूंगा। †

(२) वैज्ञानिक शिरोमणि हैक्सले महोदय के पाश्चात्य सभ्यता और व्यवसायवाद के दिये हुए इस प्रमाण पत्र को देखने के बाद अब हम इङ्गलैण्ड के उच्च कोटि के विचारक रस्किन महोदय के व्यवसायवाद के सम्बन्ध में कहे हुए एक छोटे से वाक्य को उद्धृत करते हैं जिसमें वर्तमान व्यवसायवाद को वे गुलामी से भी बदतर बतलाते हैं। उनके शब्द ये हैं।

"Alas ! if read rightly, these perfections are the signs of a slavery in our England a thousand times more bitter and degrading than that of the scourged African or helot Greek."

अर्थात् ये व्यावसायिक उन्नति के चिन्ह वास्तव में इङ्गलैण्ड में एक गुलामी के चिन्ह हैं जो अफ्रीका और यूनान के दासों की अवस्था से भी हज़ार गुणा अधिक कड़वी और गिराने वाली है।

† "Were the alternative presented to me, I would deliberately prefer the life of the savage to that of the people of the Christian London." Quoted in the People of the Abyss P. 359.

(३) व्यवसायवाद पर विचार करते हुए अमेरिका के प्रसिद्ध विद्वान् फ्रेडरिक हैरीसन भी रस्किन के ही समान उसे केवल दासता का चिन्ह कहते हैं। उनके शब्द निम्न लिखित हैं—

"To me atleast it would be enough to condemn modern society as hardly an advance on slavery, if the permanent condition of industry were to be that which we behold, that ninety percent of the actual producers of wealth have no home that they can call their own................

"If this is to be the permanent arragement of modern society, civilisation must be held to bring a curse on the great majority of mankind" †

तात्पर्य यह है कि यदि वर्तमान समय में व्यवसाय की जो अवस्था है जिसमें ९० प्रतिशतक धन के वास्तविक उत्पादक श्रमियों के पास अपने घर तक नहीं, जिसमें उन्हें ऐसे स्थानों में रहने को वाधित होना पड़ता है जो पशुओं के भी रहने लायक नहीं। यदि वर्तमान समाज का यही स्थायी प्रबन्ध रहना है तो यही समझना चाहिये कि वर्तमान सभ्यता मनुष्य जाति की बहु संख्या पर मानो एक बड़ी आपत्ति वा शाप को लाई है।

फ्रेडरिक हैरीसन को ये शब्द लिखे हुए कितने ही वर्ष हो गये पर पता लगता है कि व्यावसायिक अवस्था अब तक भी वैसी की वैसी ही (बहुत से अंशों में) बनी हुई है क्योंकि व्यवसायवाद के बहुत से दोष ऐसे हैं जिनको दूर करना बिल्कुल असम्भव सा है। इसीलिये भारत के

† People of the abyss P. 259 में उद्धृत

एक सच्चे हितैषी "The Revival of Indian Handicraft" तथा "Aryan Rule" इत्यादि पुस्तकों के लेखक हैवल महोदय ने भारतियों को सलाह देते हुए कहा है।

"None but the ignorant will recommend you the path of western commercialism as leading to true national prosperity. Nowhere in India not even in the direst time of famine is there such utter deprevity, such hopeless physical moral and spiritual degradation as that which exists in the commercial cities of Europe directly brought out by modern industrial methods."

अर्थात् सिवाय उस पुरुष के जो अज्ञानी है तुम्हें कोई भी राष्ट्रीय उन्नति के लिये पाश्चात्य व्यवसायवाद का अनुसरण करने को न कहेगा। भारत में भयङ्कर से भयङ्कर अकाल के समय में भी, किसी भी प्रान्त में, इतनी दुराचार की सीमा, इतनी निराशाजनक उपाय रहित शारीरिक नैतिक और आत्मिक अवनति नहीं पाई जाती जितनी वर्तमान व्यवसाय-वाद के उपायों के कारण यूरोप के व्यवसायप्रधान नगरों में पाई जाती है।

मेरी कौरेली नामक विदुषी का सभी पाश्चात्य सभ्यताभिमानी सज्जनों को दिया हुआ निम्नलिखित प्रमाण पत्र विशेष द्रष्टव्य है।

"The blight is over all. The blight of atheism, infidelity, callousness and indifference to honourable principles—the blight of moral cowardice, self indulgence, vanity and want of heart." †

†"Illusions of new India" by Pramath Nath Bose P. 252.

अर्थात् यूरोपीय सभी सभ्य पुरुषों पर नास्तिकता, अविश्वासपात्रता, कठोर-हृदयता, उच्च सिद्धान्तों के प्रति उपेक्षा, नैतिक भीरुता, स्वार्थ परायणता अभिमान और साहस-हीनता का लाञ्छन लगाया जा सकता है। यह हो सकता है कि इस लेख को लिखते हुए भाव की प्रबलता के कारण कुछ अत्युक्ति को काम में लाया गया हो किन्तु यदि ६० प्रतिशतक सभ्यताभिमानी पुरुषों पर भी यह नास्तिकतादि का लाञ्छन न्यायपूर्वक लग सकता है जैसा कि अन्य भी अनेक विद्वानों की उक्तियों से पता लगता है तो यह अत्यन्त हीन नैतिक और धार्मिक अवस्था का सूचक है और उससे यह भी साफ़ मालूम होता है कि प्राकृतिक उन्नति के पीछे दिन रात लगकर यूरोप ने धार्मिक और नैतिक उन्नति की एक प्रकार से बिल्कुल ही उपेक्षा की है जिसका फल वह भोग रहा है और बहुत देर तक भोगता रहेगा।

इन बड़े २ विद्वानों की साक्षियों के अतिरिक्त यदि यूरोप के सामाजिक जीवन से सभ्यता की जांच करनी हो तो भी हम उपर्युक्त परिणाम पर ही पहुंचते हैं। "Social advance its meaning method and goal" नामक पुस्तक के लेखक रेवरेन्ड डेविड वाट्सन ने यूरोप और विशेषतः ग्रेट ब्रिटेन की नैतिक और सामाजिक दशा का जो संक्षिप्त, पर शोकजनक नक्शा अपनी पुस्तक में खींचा है उसमें से निम्न लिखित बातों का यहां उल्लेख करना अप्रासङ्गिक न होगा। अपने देश में नैतिक नियमित जीवन वा moral का बिल्कुल अभाव सा होता चला जा रहा है इसके वे ५, ६ उदाहरण बतलाते हैं।

(१) हुल्लड़पन (Hooliganism) की यहां तक वृद्धि हो रही है कि रेवरेन्ड डेविस के अपने शब्दों में कई बड़े २ शहरों के अनेक हिस्से

दिन के समय भी सुरक्षित नहीं † अर्थात् वहां जाना ख़तर नाक है। न केवल ग्रेट ब्रिटेन में बल्कि सारे यूरप और अमेरिका में इस भद्दे हुल्लड़पन की वृद्धि हो रही है जिसकी तरफ़ शीघ्र ही हमारा ध्यान आकर्षित होना चाहिये।

(२) उजड्डपन (Vagiancy and loafing) की भी प्रतिदिन वृद्धि होती जा रही है। रेवरेन्ड डेविस कहते हैं कि कम से कम ५० हज़ार भिखारीपन से आजीविका करने वाले निकम्मे लोग हमारे देश में फिरते हैं जिन्होंने जीवन भर कभी ईमान्दारी से न काम किया और न करना चाहते हैं।

(३) पति पत्नी त्याग या तलाक़ की प्रवृत्ति भी निरन्तर बढ़ रही है। यहां तक हालत पहुंच गई है कि केवल एक ग्लासगो के शहर में ही ६ महीनों में ८९५ तलाक़ हो चुके हैं। पादरी साहब ने इस शोचनीय दशा का मुख्य कारण अनियमित जीवन और १४ से २१ वर्ष तक की आयु में माता पिता के योग्य निरीक्षण की कमी ही बताया है। जन संख्या की गणनाएं देखने से पता लगता है कि १९०१ से १९११ तक के अर्से में सारे जर्मनी में तलाकों की संख्या आगे से दुगुनी हो गई। प्रशिया में १९१२ में प्रति २५ विवाहों में से १ तलाक़ हुआ प्रशिया के दूसरे नगरों में प्रति १८ में से एक और बर्लिन में प्रति १० विवाहों में १ तलाक़ हुआ। यह हिसाब लगाया गया था कि यदि यही दशा बनी रही तो जर्मनी में १९५७ ईस्वी तक एक भी पुरुष तलाक़ किये बिना न बचेगा।

अमेरिका में जो यूरोप से भी अधिक समृद्ध और सभ्य माना जाता है इस विषय में सब से ज्यादह उन्नति की है, जैसा कि निम्न लिखित

† Certain districts of our big cities are not safe even in daylight." Social Advance by Rev. David Watson P. 59.

गणनाओं के देखने से मालूम हो सकता है जो सन् १९२४ की हैं। ये गणनाएं न्यूयार्क के प्रसिद्ध जज बेन् लिंड्से (Ben B. Lindsey) की पुस्तक "The Revolt of the modern youth" से श्रीयुत रंग ऐय्यर् ने 'Father India' में उद्धृत किये हैं।

	विवाह संख्या	तलाक़ संख्या
ऐट्लान्टा शहर	३३५०	१८४५
लॉस ऐंजिलिस (Los Angeles)	१६६०५	७८८२
कन्सास शहर (Kansas city)	४८२१	२४००
डेन्वर् (Denver)	३०००	१५००

इन गणनाओं पर टिप्पणी करते हुए जज् लिंड्से कहते हैं कि—

'The ratio of divorce to marriage had risen by leaps and bounds. Five years ago, it was one to four; now 2 to 4.

अर्थात् तलाक़ बड़ी तेजी से बढ़ रहा है। ५ वर्ष पूर्व विवाह और तलाक़ का अनुपात ४ और १ का है। अब ४ और २ का है। अमेरिका के अन्य बड़े शहरों की अवस्था डेनूवर से भी बुरी है इस विषय में जज महोदय लिखते हैं।

"Make no mistake about the fact that Denver is no morse but, I think, a great deal better than any other cities of similar size."

पाश्चात्य सभ्यता के इस प्रसाद की तरफ़ इसके भक्त भारतीयों को विशेष दृष्टि रखनी चाहिये।

(४) शराबीपन की भी निरन्तर बढ़ती हो रही है।

(५) जुर्मों (crimes), विशेषतः नव युवकों और बालकों द्वारा किये हुए जुर्मों की पिछले वर्षों निरन्तर वृद्धि हुई है। पादरी डैविड कहते हैं, कि उन्हें स्वयं एक बड़े भारी जेलखाने को देखने का अवसर हुआ है जिस में १ हज़ार के लगभग क़ैदी हैं और इन में से $\frac{1}{10}$ अर्थात् १०० की आयु २० वर्ष से कम हैं ऐसा ही अन्य भी अनेक क़ैदखानों में है। इसके कारण की व्याख्या उनके अपने ही शब्दों में यह है।

"The writer has no hesitation in saying that the majority of these men and nearly all the youths are there through moral infirmity, lack of what we mean by character." (Social advance P. 56.

एक शब्द में आचारहीनता ही इस शोचनीय अवस्था का कारण है।

(६) विलासिता वा ऐयाशी तथा मौज लूटने के मद ("Mania for pleasure") की यूरोप और अमेरिका में दिन दूनी रात चौगुनी वृद्धि हो रही है। ये हैं प्रसाद इस नास्तिक प्राकृतिक सभ्यता के, जिस के अवलम्बन करने से ही भारत का कल्याण हो सकता है ऐसा हमारे कई सुशिक्षित युवकों का मत है। हमारे इस लेख का यह तात्पर्य नहीं कि वर्तमान सभ्यता में सब दोष ही दोष हैं, एक भी अच्छी बात नहीं है। इस समय की वैज्ञानिक उन्नति वास्तव में आश्चर्यजनक है। रेल, तार, बेतार की तार इत्यादि वैज्ञानिक आविष्कारों द्वारा विज्ञान ने मनुष्य के जीवन को निःसन्देह कई अंशों में सुखमय और अधिक उपयोगी बना दिया है। इस सभ्यता ने हमें समय के महत्त्व को अधिक समझने का पाठ सिखाया है साथ ही देश भक्ति और जातीयता के जिन भावों पर यूरपीय सभ्यता ने विशेष बल दिया है, वे यद्यपि कई अंशों में बड़े

दोष युक्त हैं तथापि उचित सीमा में रखे जाने पर बड़े उपयोगी हैं। महात्मा गान्धी जी के समान कलाओं के प्रयोग के सर्वथा ही बहिष्कार और विरोध करने का भी हमारा तात्पर्य नहीं, क्योंकि महायन्त्र प्रवर्तन की गणना जो मनु महाराज ने अपनी स्मृति के अ० ११ श्लो० ६३ में उपपातकों के अन्दर की है उस का अर्थ Large scale पर machinery का ही है। अन्य सबप्रकार की कलाओं को पाप नहीं माना गया। शुक्रनीति सार अ० ४ प्र० ३ श्लो० ८५ में तो 'जल वाय्वग्निसंयोग निरोधैश्च क्रिया कला' यह कह कर भाफ़ के द्वारा जो कार्य करने का निर्देश किया गया है कुछ आश्चर्य नहीं, यदि उस का तात्पर्य वर्तमान काल की रेल गाड़ी के साथ मिलते जुलते किसी यन्त्र की रचना से हो। अस्तु, यहां हमारा लिखने का तात्पर्य केवल इतना ही था कि पाश्चात्य सभ्यता में या तो धर्मको बिल्कुल ही तिलाञ्जलि देदी गई है और या उसे केवल एक विशेष प्रकार के बुद्धि सम्बन्धी दिलबहलाव (intellectual recreation) का साधन और सप्ताह में एक दिन आदित्यवार गिर्जे घर के साथ सम्बन्ध रखने वाली चीज़ समझ लिया गया है जिस का शेष जीवन पर न तो कोई प्रभाव होता है और न किसी तरह का सम्बन्ध ही है। यूरोप में इस समय शराबीपन, सिफ़लिस, गनोरिया इत्यादि वीर्य सम्बन्धी रोगों और दूसरी नैतिक बुराइयों की वृद्धि होरही है जैसा कि कुछ उदाहरण दे कर यहां दिखाने का यत्न किया गया है उस का मुख्य एक कारण ऊपर कहा हुआ अशुद्ध विचार ही है। धर्म से जीवन के शेष विभागों को बिल्कुल अलग कर देने के कारण यूरोपीय सभ्यता ने एक ऐसी नैतिक बीमारी सी पैदा करदी है कि एडवर्ड कार्पेन्टर जैसे उच्चकोटि के विचारक और तत्त्वज्ञानी कवि को "Civilisation the Disease and its Cure" नामक पुस्तक लिखनी पड़ी है। रेवरेन्ड स्टोक्स ने भी जो गत २०, २५ वर्षों से भारत

में मिशनरी के तौर पर काम करते रहे हैं, उस यूरोपीय सभ्यता से जो अवतक रङ्ग सम्बन्धी काले गोरे के भेद वा पक्षपात को भी दूर करने में समर्थ नहीं हो सकी, जैसा कि कैनाडा, आस्ट्रेलिया, केन्या दक्षिण अफ़्रीका इत्यादि उपनिवेशों की भारतीयों के प्रति घृणा के भावसे साफ़ ज़ाहिर होता है निराश होकर Failure of European Civilisation नामक उत्तम पुस्तक लिखी है।

इस सभ्यता विषयक विचार को समाप्त करने से पूर्व हमें प्रसिद्ध अंग्रेज़ विद्वान् बेंजमिन किड् Benjamin Kidd द्वारा लिखित "Principles of Western Civilisation" (पाश्चात्य सभ्यता के सिद्धान्त) इस ग्रन्थ की वहुत ही संक्षिप्त आलोचना कर देनी आवश्यक मालूम होती है क्योंकि बेंजमिन किड यूरोप के प्रसिद्ध समाजशास्त्रज्ञों में से एक है। मि० किड ने अपने ग्रन्थ में मनुष्य जाति की इस समय तक की सभ्यता का दो खण्डों में विभाग कर दिया है जिनमें से पहले में Spirit of the present और दूसरे में Spirit of the future राज्य करती है अर्थात् उनके लेखानुसार एक तो ईसा मसीह के आने से पूर्व तक का सारा समय है जब कि लोगों को भविष्य का कुछ भी ख़्याल नहीं था, जब कि वे वर्तमान काल की आवश्यकताओं के पूर्ण करने और उनकी चिन्ता करने में ही तत्पर रहते थे, उनके सामने भविष्य सम्बन्धी विशेषतः मृत्यु के बाद क्या होगा इस बात का कोई भी विचार नहीं था और दूसरा ईसाइयत के प्रचार के बाद का समय है जिसमें भविष्य जीवन सम्बन्धी विचार ही शासन करता है अर्थात् लोगों के सामने एक ऊंचा आदर्श और भविष्य सम्बन्धी विशेष प्रकार की कल्पना है जिससे प्रेरित होकर वे सब कार्य करते हैं। सीधे और साफ़ शब्दों में उनके समालोचक प्रो० क्रौज़ियर के अनुसार यह कह सकते हैं कि मि० बेंजमिन किड की राय में ईसामसीह के उत्पन्न होने से पूर्व संसार में मनुष्यों की आकृति में पशु (Brutes) या जानवर रहते थे जिनको सिर्फ़ गुज़रते हुए समय के लिये कुछ वन्दों

वस्त करने से मतलब रहता था बस, जिन को मृत्यु के बाद या भविष्य का और कोई विचार न था। मि० किड की इस स्थापना पर लम्बी चौड़ी टीका टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं क्योंकि प्राचीन धर्मों से नितान्त अनभिज्ञता और अन्य जाति के लोगों के प्रति अनुचित पक्षपात के सिवाय इस स्थापना से और कुछ नहीं टपकता। भारत के धर्मों की बात थोड़ी देर के लिये जाने भी दें जिनका पुनर्जन्म के सिद्धान्त पर इतना दृढ़ विश्वास प्रारम्भ से चला आ आया है तो भी प्राचीन मिश्र, चीन, खाल्डिया, बैबीलोनिया, ग्रेटब्रिटेन, यूनान में प्रचलित मतों के अनुशीलन से बिल्कुल स्पष्ट तौर पर पता लगता है कि उन सब मतों के अनुयायी पुनर्जन्म को मानने वाले थे। उदाहरणार्थ पारसियों के मगी लोग पुनर्जन्म में विश्वास करते थे जैसा कि ज़िन्द अवस्था के पढ़ने से मालूम होता है। चीनी शिक्षक लेओत्ज़े Lao-Tze ने कहा है कि आत्मा की अमरता के सिद्धान्त से अनभिज्ञ होना बार २ भ्रम में पड़ने और दुःख भोगने का कारण होता है। चुंगत्ज़े Churng-Tze नामक दूसरे शिक्षक ने कहा है कि मृत्यु केवल नवजन्म का प्रारम्भ है। चीन में प्रचलित तोइज़्म नामक मत का विश्वास था कि इस जन्म में किये अच्छे बुरे कर्मों का फल अगले जन्म में मिलेगा।

ग्रेटब्रिटेन में ईसा मसीह से कई सदी पूर्व प्रचलित ड्रूइड सम्प्रदाय का भी पुनर्जन्म में विश्वास था।

यूनानी विद्वान् पाइथोगोरस और अफ़लातून, सुकरात (Plato and Socrctes) ये सब पुनर्जन्म और आत्मा की अमरता के सिद्धान्त को मानने वाले थे।

यहूदी शिक्षक भी पुनर्जन्म को मानते थे। यहूदियों के रहस्य ग्रन्थ कैबेला तथा ज़ोहर में स्पष्ट लिखा है कि आत्मा, पूर्णता की प्राप्ति के लिये कई बार शरीर धारण करता है। ईसा मसीह से पूर्व यहूदियों में ऐसिनीज़ सम्प्रदाय प्रचलित था जिसके विषय में न्यू इन्टर नेशनल एन्साइ-

क्लोपीडिया (New International Encyclopedia Vol. VII P. 217) पर लिखा है कि वे शरीर को नश्वर किन्तु आत्मा को अमर मानते थे। ईसा मसीह के पूर्ववर्ती गुरु जॉन का भी इसी सम्प्रदाय से सम्बन्ध माना जाता है। आर्य-धर्म के ग्रन्थों से तो पुनर्जन्म के समर्थक हज़ारों प्रमाण उद्धृत किये जा सकते हैं। बौद्धमत में भी निर्वाण प्राप्ति को अन्तिम लक्ष्य बताया गया है जो कम से कम वर्तमान काल के साथ सम्बन्ध रखने वाली चीज़ नहीं। बड़े ही आश्चर्य का विषय है कि बैंजमिन किड जैसे प्रसिद्ध विद्वान् ने इन सब मतों में समान रूप से स्वीकार की जाने वाली भविष्य में विश्वास विषयक सचाई को जान बूझकर पक्षपातवश भुलाते हुए सभ्यता के सम्बन्ध में वैसा बे सिर पैर का निराधार लेख कैसे लिख दिया। बेंजमिन किड के इस लेख की, योग्य रीति से कड़ी समालोचना करते हुए डा० क्रोज़ियर ने अपने सोशियालोजी (Socialogy) के ग्रन्थ में मिश्र, यूनान वासियों, यहूदियों, हिन्दुओं और बौद्धों के भविष्य जीवन विषयक विश्वासों का उल्लेख करते हुए लिखा है कि—

"Now each and all of these nations lived in some ideal of the future; and for Mr. Kidd to break the Evolution of Civilisation into two halves in order to prove the opposite, simply because it was not specially a christian Heaven they were looking forward to is to put himself as a scientific historian beyond the pole of serious discussion." (Socialogy by Crozier P. 86)

वास्तव में यदि ईसाइयत में माने जाने वाले स्वर्ग में विश्वास का ही नाम बेंजमिन किड ने भविष्य में विश्वास मान लिया है तो दूसरी

बात है। पर इतने बड़े समाजशास्त्रज्ञ से इतनी भयङ्कर अशुद्धि की आशा नहीं की जाती। अस्तु

भारतीय सभ्यता के विषय में इतनी ही विवेचना यहां पर्याप्त है। अगले अध्याय में भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति पर विचार किया जाएगा और उससे अगले अध्याय में सामाजिक विकास वाद पर आलोचना करते हुए हर्बर्ट स्पेन्सर तथा अन्य पाश्चात्य समाज-शास्त्रियों के मतों पर समालोचनात्मक दृष्टि डाली जाएगी।

इस अध्याय का परिशिष्ट

इस निबन्ध के पृ० २३८ पर मि० स्टोक्सकृत फेल्योर आव योरोपीयन सिविलाइज़ेशन (Failure of European Civilisation) नामक पुस्तक का उल्लेख किया गया है। उसमें से दो तीन उद्धरणों का देना अत्यावश्यक मालूम देता है जो इस बात को स्पष्ट करेंगे कि वर्तमान यूरोपीय सभ्यता संसार के लिये शान्तिदायक नहीं हो सकती और यह कि रंग का भेद इस सभ्यता का एक आवश्यक अंग बन गया है। अपनी स्थापना की पुष्टि में मि० स्टोक्स ने मि० हेस्टिंग सम्पादित एन्साईक्लोपेडिया आफ़ रिलिजन (Encyclopedia of Religion and Ethics edited by Hastings) के रेस (Race) विषयक लेख से निम्न लिखित उद्धरण दिया है जो बड़ा मनोरंजक है। वे कहते हैं।

"The colour barrier presented itself to the European as *insurmountable.* Instead of classifying mankind into christians and pogans transmutable into one another by conversion, he now classified them as the white race and the black race divided from one another by exernal objective characteristics, which no act or will on either side could surmount." (P. 551).

इस प्रामाणिक ग्रन्थ के आधार पर लेख लिखते हुए मि० स्टोक्स पाश्चात्य सभ्यता के बारे में निम्न लिखित टिप्पणी करते हैं जिसमें बड़ी भारी सचाई है।

"One fact that clearly emerges is, that this modern civilisation stands for a definite cleavage of the human race upon a permanent basis for the setting up of a colour bar. In other wards; it stands for the erection of an impassable social barrier between the 'white world' and the 'world of colour'. (Failure ofEuropean civilisation as a world culture by S. E. Stokes P. 17-18,

इसी पुस्तक में वे दूसरे स्थान पर लिखते हैं—

"A civilisation which is worthy of the co-operation of all the world, must be built up with reference to the interests and needs of all mankind. European civilisation on the contrary, is deeply committed to the principle of race-segregation up on a basis which enormously favours the interests of the white races, P. 53.

इन उद्धरणों से वर्तमान पाश्चात्य सभ्यता की जो गोरी और काली जातियों में जगत् का विभाग करने के पक्षमे है और जो केवल गोरी जातियों के ही स्वार्थ का ख्याल करते हुए अन्य जातियों को पैरों तले कुचलना तक बुरा नहीं समतझी, जगत् के अन्दर शान्ति स्थापन करने में असमर्थता बिल्कुल स्पष्ट हो जाती है। इस सभ्यता के कारण निर्बल जातियों को

सबल बनाने के स्थान में यदि शासक उन्हें दबाने का निरन्तर प्रयत्न करें और मन माने अत्याचार करने से भी बाज़ न आएं तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है । इतनी बात तो निर्विवाद है कि प्राणि मात्र को अपना बन्धु समझने वाले उदार हृदय विचारक कभी भी इस सभ्यता के तत्त्वों की कड़ी आलोचना किये बिना नहीं रह सकते चांहे वे किसी भी देश वा जाति के हों ।

डा० जेम्स कज़िन्स और वैदिक सभ्यता

इस प्रकरण को समाप्त करने से पूर्व हम दो उच्च कोटि के विचारक पाश्चात्य विद्वानों का अभिप्राय भारतीय, विशेषतः, वैदिक सभ्यता के महत्त्व के विषय में उद्धृत करना चाहते हैं जिससे स्पष्ट प्रतीत होगा कि निष्पक्षपात दृष्टि से विचार करने पर धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों को भी भारतीय सभ्यता का गौरव मालूम होता जा रहा है ।

(१) पहला उद्धरण वर्तमान समय के सुप्रसिद्ध विचारक शिल्पकार और कवि डा० जेम्स कज़िन्स के 'शान्ति मार्ग' (Path to Peace) नामक निबन्ध से है जिस में भिन्न २ सभ्यताओं की निष्पक्षपात विवेचना करते हुए वे अन्त में वैदिक सभ्यता की ओर निर्देश करते हुए कहते हैं ।

"Such an ideal civilisation is that or the Vedic India which has seen the rise and fall of a succession of empires; and it is because it holds for humanity indications towards salvation, that Europe to-day in her search for a saner and surer attitude to life and humanity than that which has brought her to the brink of ruin is turning towards India." (P, 43)

"The civilisation that sprang from the vedic genius, which was articulate and conscious, many centuries before the present era being intuitional was synthetical and therefore inclusive." "On this (vedic) ideal alone, with its inclusiveness which absorbs and annihilates the causes of antagonism, its sympathy which wins hatred away from itself, is it possible to rear a new earth in the image and likeness of the eternal Heavens." (P. 60)

ऊपर के उद्धरणों का अभिप्राय यह है कि इस प्रकार की आदर्श सभ्यता वैदिक भारत की है जिसके सामने इतने साम्राज्यों का उत्थान और पतन हुआ पर जो स्वयं नष्ट न हुई। क्योंकि यह सभ्यता मनुष्य मात्र के उद्धार के लिये निर्देश देती है यही कारण है कि यूरोप जीवन विषयक उच्चतर दृष्टि की खोज में अपेक्षा उसके जिसने उसे नाश के बिल्कुल समीप ला दिया है भारत की ओर मुख फेर रहा है। वैदिक सभ्यता का आधार अधिकतर आन्तरिक वा आत्मिक होने के कारण वह संमिश्रणात्मक और समुच्चयात्मक थी अर्थात् उस में ऐहिक पारलौकिक दोनों प्रकार उन्नति के लिये साधनों का योग्य मेल था। शारीरिक मानसिक, आत्मिक, वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक, राष्ट्रीय सब प्रकार की उन्नति उसके अन्तर्गत थी। इस सर्वाङ्गीय वैदिक आदर्श के ही आधार पर जो समुच्चयात्मक और व्यापक होने के कारण सब विरोध के कारणों और सहानुभूति द्वारा घृणा को दूर कर सकता है फिर से पृथिवी को स्वर्ग समान बनाना संभव है।

आयरिश विचारक शिरोमणि डा०. कज़िन्स के उपर्युक्त विचार में

निस्सन्देह यही सचाई है यद्यपि कई पाश्चात्य विद्वान् पक्षपात ग्रस्त होने के कारण उसे अभी तक समझ नहीं सके।

डा० विल् डय़ुरन्ट और भारतीय सभ्यता

डा० विल् ड्युरन्ट (Dr. Will Durant) कोलम्बिया युनिवर्सिटी के दर्शन शास्त्र के भू० पू० प्रोफ़ेसर और अमेरिका के प्रसिद्ध सार्वजनिक कार्यकर्ता हैं। वे गत वर्ष ६ मास भारत में भ्रमण करके अपने देश को लौटे हैं। ५ अक्तूबर १९३० को न्यूयार्क के एक गिर्जाघर में व्याख्यान देते हुए उन्होंने भारतीय सभ्यता पर जो विचार प्रकट किये उनमें से निम्न उद्धरण * इस प्रकरण में आवश्यक हैं। उनसे इस विचार का भली भांति खण्डन होता है कि प्राचीन भारतवासी प्राकृतिक विषयों की ओर सर्वथा उपेक्षा दिखाते थे। उनके अपने शब्द इस प्रकार थे।

"Recent excavations at mohenjo Daro reveal a civilisation 3500 B.c. with great cities, comfortable homes' industries, betakening a social condition superior to that prevailing in contemporary Babylonia and Egypt.

"At no time in recorded history has India been without a high civilisation. All in all, it ranks in its achievements with the highest civilisations in history. Many scholars would call it the highest of all."

* ये उद्धरण यहां डा० सुधीन्द्र बोस के १५ नवम्बर १९३० के 'Hindu' नामक सुप्रसिद्ध मद्रासी दैनिक पत्र से लिये गये हैं जिसमें उपर्युक्त व्याख्यान की रिपोर्ट निकली थी।

भावार्थ यह है कि मोहनजोदारु (सिन्ध) इत्यादि की खुदाई तथा अन्य प्रमाणों से स्पष्ट सिद्ध होता है कि ईसाब्द से ३५०० वर्ष पूर्व भी भारत बहुत ही उच्च सभ्यता के शिखर पर पहुंचा हुआ था जिस में लोगों को बड़े २ शहरों में उत्तम घर बना कर रहने और अनेक प्रकार के शिल्पों का ज्ञान था। बेबोलोनिया और मिश्र इत्यादि की उस समय की सभ्यता से भी यह सभ्यता उच्चतर थी। भारत, उपलब्ध इतिहास में किसी समय भी उच्च सभ्यता से शून्य नहीं रहा। इसकी गणना इतिहास की उच्च तम सभ्यताओं में हो सकती है। इतना ही नहीं बहुत से विद्वान् तो इसे ही सर्वोत्कृष्ट कहते हैं !

उसी भाषण में डा० विल् ड्युरन्ट ने भारतीय सभ्यता के विषय में कहा।

"The civilisation of India is (at least) 5000 years old. When Alexander invaded India in 326 B. C. his historian Magasthenes reported his astonishment at finding a people quite as civilised and artistic as the greeks—and this was when greek civilisation was at its hight." "The civilisation that was destroyed by British guns had lasted for fifty centuries, producing countless geniuses, saints from Buddha to Ram Krishna and Gandhi; Philosophers from the Vedas to Schopenhauer and Bergson, Emerson and thorean and Key seiling, who take their lead and for the most part acknowledge their derivation from Hindu thought, artists who built the great temples

at Ellora, Tanjore, Trichnopoly, madura and the great palaces of the moghuls at Delhi Agra and Sikri. "This evidently was not a minor civilisation produced by an inferior people."

भावार्थ यह है कि भारत की सभ्यता कम से कम ५००० वर्ष पुरानी है जब ३२६ ई० पू० में सिकन्दर ने भारत पर आक्रमण किया तो उसके ऐतिहासिक मैगस्थनीज़ ने युनानियों के ही समान सुसभ्य (उस समय के युनानी सभ्यता के शिखर पर चढ़े हुए थे) भारतियों के देखने पर अत्यन्त आश्चर्य प्रकट किया।

"यह सभ्यता जिसका ब्रिटिश लोगों की तोपों से नाश किया गया है ५० सदियों तक स्थिर रही और उसने अनन्त प्रतिभाशालियों, महात्माओं वैदिक ऋषियों से लेकर शोपनहार, इमर्सन, बर्गसन् थोरियो इत्यादि उच्च विचारकों (जिनमें से बहुतों ने हिन्दू विचारों से न केवल विशेष सहायता ली है बल्कि इस बात को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है) उन शिल्पियों को जिन्होंने इलोरा, तंजौर, त्रिचनापली, मदुरा के बड़े २ मन्दिर और आगरा, देहली, सीकरी इत्यादि में मुग़लों के महल बनाए जन्म दिया। वस्तुतः यह नीच कोटि के मनुष्यों की हीन सभ्यता न थी. बल्कि यह अत्यन्त उत्कृष्ट सभ्यता थी, इसमें सन्देह नहीं।

सप्तम अध्याय

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति

इस निबन्ध के षष्ठ अध्याय में भारतीय सभ्यता के विषय में विचार किया गया है। पाश्चात्य समाज शास्त्रियों के नेता मि० हर्बर्टस्पेन्सर ने अपने ग्रन्थों में बताया है कि स्त्रियों की स्थिति से किसी जाति की सभ्यता का बहुत कुछ अनुमान लगाया जा सकता है। राजस्थान इतिहास के सुप्रसिद्ध लेखक कर्नल टॉड ने यहां तक लिखा है कि यह एक सर्वसम्मत बात है कि किसी भी जाति की सभ्यता का उसकी स्त्रियों की स्थिति से बढ़कर बोध कराने वाला कोई साधन नहीं। †

यही मत अन्य भी अनेक उत्तम विचारकों का है इसलिये इस अध्याय में हम 'भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति' इस विषय पर निम्नलिखित ४ दृष्टियों से विचार करना चाहते हैं (१) शास्त्रीय दृष्टि (२) ऐतिहासिक दृष्टि (३) वर्तमान स्थिति (४) आवश्यक सुधार साथ २ पाश्चात्य देशों में स्त्रियों की स्थिति पर भी थोड़ा प्रकाश इस अध्याय में डालने का यत्न किया जाएगा ताकि हमारा अभिप्राय स्पष्ट हो सके।

शास्त्रीय दृष्टि

(संस्कृत साहित्य पर एक नजर)

शास्त्रीय दृष्टि से इस आवश्यक विषय पर विचार करते हुए सब से पूर्व हमें वेदों के अन्दर पाये जाने वाले स्त्रियों की स्थिति सूचक मन्त्रों

---

† "It is universally admitted that there is no better criterion of the refinement of a nation than the condition of the fair sex there in." Tod's Rajasthan Vol. 1 Page 609.

पर एक सरसरी नज़र दौड़ानी चाहिये। भिन्न २ संप्रदायों के सब आर्य (हिन्दू) वेदों की स्वतः प्रमाणता को स्वीकार करते हैं इसलिये वेदों के अन्दर पुरुष स्त्री अथवा पति पत्नी का कैसा सम्बन्ध माना गया है, स्त्रियों के विषय में वेद के भाव सन्मान सूचक हैं अथवा घृणा सूचक इत्यादि बातों की निष्पक्षपात रीति से आलोचना करना इस प्रकरण में अत्यावश्यक है। यजुर्वेद का निम्नलिखित बहुत ही उत्तमता से विशेषणों के प्रयोग द्वारा एक प्रशंसनीय विद्यावती देवी के गुणों और कर्तव्यों का निर्देश करता है।

इळे रन्ते हव्ये काम्ये चन्द्रे ज्योतेऽदिते सरस्वति महि विश्रुति। एता ते अघ्न्ये नामानि देवेभ्यो मा सुकृतं ब्रूतात्॥

यजु० ८। ४३॥

इस मन्त्र का देवता 'पत्नी' है जिसके विशेषणों का अभिप्राय निम्न प्रकार है।

(१) इडा—उत्तम वाणी युक्त

(२) रन्ता—रमणीय

(३) हव्या—पूजनीय

(४) काम्या—कामना करने योग्य

(५) चन्द्रा—आह्लाद देने वाली

(६) ज्योति—घर में ज्योति के समान अथवा हृदय के अज्ञानान्धकार को अपने दिव्य गुणों के प्रकाश से दूर करने वाली।

(७) अदिति—दीनता हीनता के भावों से रहित या स्वतन्त्रताप्रिय

(८) सरस्वती—प्रवाह या परम्परा से प्राप्त उत्तम ज्ञान का सम्पादन करने वाली।

(९) मही—महान् उदार भावों से युक्त।

(१०) विश्रुती—विविध विद्याओं का जिसने श्रवण किया हुआ है या बहुश्रुत।

(११) अघ्न्या—जिसकी हिंसा करना कभी योग्य नहीं है।

विदुषी देवी के लिये प्रयुक्त इन ११ विशेषणों को देखने से यह साफ़ मालूम होता है कि स्त्रियों की समाज में स्थिति के बारे में वेद के विचार बहुत ही पवित्र और ऊंचे हैं। सरस्वती, विश्रुती इत्यादि शब्द ही इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं कि पुरुषों के समान ही स्त्रियों को भी उच्च ज्ञान प्राप्त करने का पूर्ण अधिकार है।

"ब्रह्मचर्येण कन्या युवानं विन्दते पतिम्।"

अथ० ११। १८। ५॥

कन्या ब्रह्मचर्य के द्वारा युवक पति को प्राप्त करती है ऐसा कहा है। ब्रह्मचर्य शब्द के गौण अर्थ अनेक हो सकते हैं किन्तु मुख्य अर्थ ब्रह्म अर्थात् वेद के ज्ञान के लिये व्रत ग्रहण करना यही है और उससे कन्याओं के लिये वेदाध्ययन का विधान स्पष्ट सूचित होता है। वैदिक युग में स्त्रियों को वेद पढ़ने के विषय में न सिर्फ़ कोई निषेध नहीं था बल्कि हज़ारों देवियां वैदिक उच्च भावों का प्रचार करके अपने जीवन को सफल करती थीं यह इसी अध्याय में ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए बतलाया जाएगा। रन्ता, हव्या, काम्या, चन्द्रा, ज्योति ये जो विशेषण यजुर्वेद के उपर्युक्त मन्त्र के अन्दर आये हैं वे स्त्रियों के प्रति विशेष सन्मान-सूचक हैं इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं हो सकता। ऋग्वेद का निम्नलिखित मन्त्र सरस्वती अर्थात् विदुषी देवी के लिये यज्ञ करने का विधान करता हुआ उनकी पुरुषों के समान स्थिति की सूचना देता है। मन्त्र इस प्रकार है।

चोदयित्री सूनृतानां चेतन्ती सुमतीनाम्। यज्ञं दधे सरस्वती।

ऋ० १। ३। ११॥

इस मन्त्र में सूनृत अर्थात् मधुर और सत्य वचनों की प्रेरणा करना और सुमति–उत्तम सलाह का देना यह देवियों का कर्तव्य बताया गया है। उत्तम सलाह देना, मधुर और सत्य वचनों की प्रेरणा करना तथा यज्ञ करना ये कार्य समान स्थिति (Position) वाली देवी के ही हो सकते हैं न कि दासियों के, जिन्हें पुरुष पैरों के तले की जूती समझें!

ऋ० १० । ८५ तथा अथर्व काण्ड १४ में आये हुए विवाह विषयक वेद मन्त्रों के अध्ययन से भी यह साफ़ मालूम होता है कि वेदों में स्त्रियों की स्थिति बहुत ऊंची मानी गई है। उन्हें किसी भी रूप में पुरुषों से निचले दर्जे का नहीं माना गया है।

'गृहान् गच्छ गृहपत्नी यथासो।
वशिनी त्वं विदथमावदासि॥'

ऋ० १० । ८५ । ४६ ॥

'सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव, सम्राज्ञी अधिदेवृषु॥'

ऋ० १० । ८५ । ४६ ॥

'यथा सिन्धुर्नदीनां, साम्राज्यं सुषुवे वृषा।
एवा त्वं सम्राज्ञ्येधि पत्युरस्तं परेत्य॥

अ० १४ । १ । ४२ ॥

'पत्नीत्वमसि धर्मणा अहं गृहपतिस्तव।'

अ० १४ । १ । ५१ ॥

उपरोक्त मन्त्रों से पति पत्नी का सम्बन्ध राजा, रानी अथवा मालिक और मालकिन का पता लगता है न कि स्वामी और दासी का जैसा कि दुर्भाग्य से आजकल पुरुषों ने बना रक्खा है।

अथर्ववेद के ६ । ४२ । १–२ में पति-पत्नी के लिये "सखायौ" इस

शब्द का विशेषण के तौर पर प्रयोग किया गया है जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है। ये मन्त्र इस प्रकार हैं।

अव ज्यामिव धन्वनो मन्युं तनोमि ते हृदः।
यथा संमनसौ भूत्वा सखायाविह सचावहै॥
सखायाविह सचावहा अव मन्युं तनोमि ते।
अ० ६। ४२। १-२॥

इन दो मन्त्रों में किसी कारण से थोड़े समय के लिये एक दूसरे से अप्रसन्न से हुए २ पति पत्नी अपने क्रोध को दूर करते हुए फिर अपने मनों को मिलाते हुए दो मित्रों की तरह मिलकर व्यवहार करने का पुनः दृढ़ निश्चय करते हैं। किसी २ समय ऐसे मनोमालिन्य का थोड़े समय के लिये साथियों के अन्दर पैदा हो जाना अस्वाभाविक नहीं, पर उसे बहुत शीघ्र दूर करने का यत्न करना चाहिये यह यहां वेद का भाव है। पति पत्नी के इस पवित्र सम्बन्ध को महाभारत शुक्रनीतिसार इत्यादि ग्रन्थों में भी सखा सखी के रूप में बताया गया है यह इसी अध्याय में प्रमाण सहित आगे दिखाया जाएगा।

वेद के अनुसार विवाह युवावस्था में स्वयंवर रीति से होना चाहिये इस बात में अणुमात्र भी संशय नहीं हो सकता। सम्बन्ध निश्चय अधिकतर वर वधू के अपने ही चुनाव और प्रसन्नता पर वेद में छोड़ा गया है। इस स्थापना की पुष्टि में 'सूर्यां यत्पत्ये शंसन्तीम्। इहामुदौ महसा मोदमानौ' इत्यादि सैंकड़ों प्रमाण पेश किये जा सकते हैं पर सबसे अधिक स्पष्ट इस विषयक मन्त्र ऋग्वेद १०। १८३। १-२ हैं जिनमें कन्या के लिये युवती शब्द का और वर के लिये 'पुत्रकाम' शब्द का भी स्पष्ट प्रयोग पाया जाता है। ये दो मन्त्र इस प्रकार हैं।

अपश्यं त्वा मनसा चेकितानं तपसो जातं तपसो विभूतम्।
इह प्रजामिह रयिं रराणः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकाम॥ म० १।

इस मन्त्र में एक युवती कन्या किसी सुन्दर ब्रह्मचारी, तपस्वी युवक को सम्बोधन करके कहती है कि मैंने मन से मेरी कामना करने वाले तप की विभूति से युक्त तुझ युवक को देख लिया है। हे गृहस्थाश्रम में प्रवेश करके पुत्र की कामना करने वाले युवक! तू गृहस्थ के अन्दर ऐश्वर्य और प्रजा के भोग का आनन्द लेता हुआ मेरे साथ प्रजा के द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो।

इसके ही उत्तर में युवक पुरुष के मुख से यह मन्त्र कहलाया गया है।

"अपश्यं त्वा मनसा दीध्यानां स्वायां तनू ऋत्व्ये नाधमानाम्।
उप मामुच्चा युवतिर्बभूयाः प्रजायस्व प्रजया पुत्रकामे॥"

अर्थात् हे युवति कन्ये! मैंने भी मेरा चिन्तन करती हुई और मेरे साथ सम्बन्ध करने की इच्छा रखने वाली तुझे अच्छी प्रकार देख लिया है। इसलिये उच्च भाव युक्त तू युवती मेरे साथ विवाह सम्बन्ध करके उत्तम सन्तान द्वारा वृद्धि को प्राप्त हो।

इस प्रकार के मन्त्रों से यह बात निःसन्देह बिना किसी प्रकार के संकोच के कही जा सकती है कि स्त्रियों को दासता में रखने और नाइयों अथवा पुरोहितों द्वारा बालक बालिकाओं को जोड़कर विवाह संस्कार का तमाशा कराने की वर्तमान प्रथा सर्वथा अवैदिक है।

अब यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वेद के अनुसार देवियों का कार्य-क्षेत्र केवल गृह तक ही परिमित होना चाहिये अथवा उन्हें सार्वजनिक कार्यों में भी भाग लेना चाहिये। इसके उत्तर में इतना ही कथन पर्याप्त है कि स्त्रियों के लिये वेदोक्त आदर्श केवल पतिव्रता होना नहीं बल्कि पतियों की अनुव्रता होना है।

पत्युरनुव्रता भूत्वा संनह्यस्वामृताय कम्।

'अथर्व०।

इसका तात्पर्य यह है कि अपने पतियों के यज्ञ अर्थात् शुभ कर्म में सब तरह की सहायता देना और उनके सार्वजनिक मनोरथों की पूर्ति में यथा शक्ति सहयोग देना। उदाहरणार्थ पति यदि ब्राह्मण वृत्ति को धारण करता हुआ वेदादि पढ़ाने और धर्म के प्रचार में तत्पर है तो उसकी पत्नी को चाहिये कि वह भी अपने अन्दर सौम्यतादि सात्विक गुण धारण करते हुए खाली समय में कन्याओं को पढ़ाने और स्त्रियों के अन्दर संगीत, भाषण, लेखादि द्वारा उत्तम भाव डालने का यत्न करे। क्षत्रिय पति की स्त्री को अपने अन्दर विशेष रूप से शूरवीरता के भाव धारण करते हुए पति को कर्तव्य पालन करने की प्रेरणा करनी चाहिये और आवश्यकतानुसार देश की रक्षार्थ वीर राजपूत स्त्रियों की तरह स्वयं भी मैदान जंग में जाना चाहिये।

> सं होत्रं स्म पुरा नारी समनं वाव गच्छति ॥
> वेधा ऋतस्य वीरिणीन्द्र पत्नी महीयते।
> विश्वस्मादिन्द्र उत्तरः। ऋ० १०। ८६। १०॥

इत्यादि मन्त्रों में इन्द्र अर्थात् शूरवीर सेनापति की पत्नी के लिये भी उसी प्रकार वीरा होने और 'समन' अर्थात् युद्ध में और 'होत्र' अर्थात् हवन यज्ञ में पति के साथ जाने का विधान है, जिसके लिये वैदिक तथा रामायण काल की ऐतिहासिक साक्षियां आगे दी जाएंगी। वैश्यों और शूद्रों की भी पत्नियों को अपने पतियों के व्यापार कृषि सेवादि कार्यों में यथा शक्ति हाथ बंटाना चाहिये। पति की अनुव्रता होने का यही स्पष्ट अभिप्राय है। राजा की अनुव्रता वही देवी कही जा सकती है जो अपने गृहकृत्यों से निवृत्त होकर स्त्रियों के विवादों का फ़ैसला करती है और स्त्री शिक्षादि का राष्ट्र की ओर से विशेष प्रबन्ध कराती है। एक न्यायाधीश की अनुव्रता देवी वही हो सकती है जिसके अन्दर स्त्री विषयक विवादों को सुनकर उनका पक्षपात रहित फ़ैसला करने की शक्ति हो। यहां यान

अध्यापकों तथा प्रचारकों की अनुव्रता देवियों के विषय में भी जाननी चाहिये। इसी अनुव्रता शब्द का विवाह संस्कार में सप्तपदी करते हुए प्रयोग किया जाता है जैसा कि 'इष एकपदी भव सा मामनु व्रता भव' इत्यादि पारस्कर गृह्यसूत्रोक्त वाक्यों में बताया है। इस सप्तपदी में सातवां पग 'सखा सप्तपदी भव' इस मन्त्र को पढ़ कर रखा जाता है जिसमें वर वधू को सखा के नाम से पुकारता है। यह सम्बोधन विशेष महत्त्व पूर्ण है। इस अनुव्रता बनने के आदर्श के अतिरिक्त विवाह विषयक वेद मन्त्रों में 'स्योना सर्वस्यै विशे स्योना पुष्टायैषां भव।' (अथर्व० १४।२।२७) में जो स्त्रियों को सम्पूर्ण जनता के लिये कल्याणदायिनी और उसकी पुष्टि अथवा उन्नति में सहायिका होने का उपदेश किया जाता है उससे भी यह साफ़ सिद्ध होता है कि वेद के अनुसार केवल घर के काम को अच्छी तरह कर डालने में ही देवियों के धर्म की इति श्री नहीं हो जाती बल्कि यथाशक्ति सार्वजनिक कार्यों के करने में पतियों का सहयोग देना भी उनका मुख्य कर्तव्य है। इस विषय में यहां इतना ही लिखना पर्याप्त है।

अब हम स्मृतियों में पाये जाने वाले स्त्रियों की स्थिति विषयक भावों पर विचार करना चाहते हैं। सबसे पहले मनुस्मृति में इस सम्बन्ध में जो मुख्य २ श्लोक आये हैं उनकी आलोचना करनी है क्योंकि यह प्रायः सर्वसम्मत बात है कि मनु ने अपनी स्मृति वेदों के ही भावों को लेकर बनाई और शेष स्मृतिकारों ने अपनी कल्पनाएं मिलाते हुए उसी की ही नकल कर डाली, इसलिये उनके ग्रन्थों का कोई महत्त्व नहीं। मनु ने वेद के आधार पर अपने धर्मशास्त्र का बनाया जाना स्वीकार किया है। जैसे लिखा है।

'यः कश्चित्कस्यचिद् धर्मो मनुना संप्रकीर्तितः।
स सर्वोऽभिहितो वेदे, सर्वज्ञानमयो हि सः॥'

मनु० अ० २।८॥

वेदोऽखिलो धर्म मूलं, स्मृतिशीले च तद्विदाम् ।' २। ७।

वेद को धर्म का मूल और वेदानुकूल स्मृति और सदाचारादि को प्रमाण माना है ऐसी अवस्था में यदि प्रचलित मनुस्मृति के अन्दर माँस भक्षणादि विषयों की तरह 'स्त्रियों की स्थिति' के विषय में भी परस्पर विरोधी भाव पाये जाएं (जैसा कि अभी आगे दिखाया जाएगा) तो दोनों को समान रूप से प्रामाणिक न मानते हुए वेदानुकूल भावों को ही प्रामाणिक और दूसरों को प्रक्षिप्त मानना पड़ेगा। यदि दोनों तरह के सर्वथा परस्पर विरोधी भावों को प्रामाणिक मानना हो तो धर्म शास्त्रकार मनु को पागल स्वीकार करना होगा। उदाहरणार्थ मनुस्मृति के निम्न लिखित श्लोक स्त्रियों के प्रति अत्यन्त सम्मान सूचक हैं इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा ।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः ॥ ५५ ॥
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः ।
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः ॥ ५६ ॥
तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥ ५९ ॥

मनु० अ० ३ ॥

इन श्लोकों का तात्पर्य यह है कि अपने कल्याण की इच्छा रखने वाले पिता, भ्राता, पति, देवर इत्यादि को चाहिये कि वे स्त्रियों की यथायोग्य पूजा करें और भूषणादि देकर उन्हें सदा प्रसन्न रखें। जहां स्त्रियों की पूजा होती है वहीं देवता रमण करते हैं अर्थात् दिव्य गुण, भोग और आनन्द रह सकते हैं। जहां स्त्रियों की पूजा नहीं होती वहां सब धार्मिक क्रियाएं निष्फल सी हो जाती हैं। इस लिये ऐश्वर्य चाहने वाले पुरुषों

को चाहिये कि भूषण वस्त्र भोजनादि योग्य रीति से देकर स्त्रियों को सदा ही उत्सवादि के समय विशेष कर प्रसन्न रक्खा करें। इनके अतिरिक्त मनुस्मृति अ० ९ के निम्न लिखित कुछ श्लोक भी स्त्रियों की उत्तम स्थिति पर प्रकाश डालने वाले हैं।

> प्रजनार्थं महाभागाः पूजार्हा गृहदीप्तयः।
> स्त्रियः श्रियश्च गेहेषु न विशेषोऽस्तिकश्चन ॥ २६ ॥
> उत्पादनमपत्यस्य, जातस्य परिपालनम्।
> प्रत्यहं लोकयात्रायाः प्रत्यक्षं स्त्री निबन्धनम् ॥ २७ ॥
> अपत्यं धर्मकार्याणि शुश्रूषा रतिरुत्तमा।
> दाराधीनस्तथा स्वर्गः, पितृणामात्मनश्च ह ॥ २८ ॥

इन श्लोकों में स्त्रियों के लिये निम्न लिखित प्रशंसा वाचक शब्दों और वाक्यों का प्रयोग किया गया है।

(१) महाभागाः—सौभाग्य युक्त अथवा बहुत उपकार करने वाली (महोपकारा गर्भोत्पादनार्थं बहु कल्याणभाजनभूताः इति कुल्लूकः)

(२) पूजार्हाः—पूजा करने योग्य

(३) गृहदीप्तयः—घर की शोभा

(४) श्रियः—लक्ष्मी के तुल्य

(५) सन्तान उत्पन्न करना, उत्पन्न सन्तान की पालना करना और अतिथि सत्कारादि लौकिक व्यवहार को प्रति दिन चलाना प्रत्यक्ष स्त्रियों के ही द्वारा होता है।

(६) सन्तानोत्पत्ति, अग्निहोत्रादि धर्म कार्य, सेवा, उत्तम रीति तथा सन्तानोत्पत्ति द्वारा अपना और पितरों का स्वर्ग (सुख) बहुत कुछ स्त्रियों पर ही निर्भर है।

इतना ही नहीं, अन्य अनेक शास्त्रों की तरह मनु ने भी अ० ९। ४५ में यह बात साफ़ कह दी है कि पुरुष अपने देह, पत्नी और सन्तान इन तीनों से मिलकर बनता है अकेला वह सम्पूर्ण पुरुष (साधारण अवस्था में लोक के अन्दर) नहीं कहा जा सकता। श्लोक इस प्रकार है।

एतावानेव पुरुषो यज्जायात्मा प्रजेति ह।
विप्राः प्राहुस्तथा चैतद् यो भर्ता सा स्मृतांगना॥

मनु० ९। ४५॥

इस श्लोक के पूर्वार्ध का भाव ऊपर दिया गया है। उत्तरार्ध का भाव यह है कि यतः पति पत्नी वस्तुतः एक ही है अतः मानो पति ही पत्नी है उन दोनों का शरीर जुदा २ होते हुए भी आत्मा एक के समान है वा होना चाहिये ऐसा ज्ञानी ब्राह्मण कहते हैं। इसकी टीका में कुल्लूक ने शतपथ ब्राह्मण का निम्न लिखित वाक्य उद्धृत किया है जो अत्युत्तम है।

"अर्धो ह वा एष आत्मनस्तस्माद् यज्जायां न विन्दते नैतावत्प्रजायते असर्वो हि तावद् भवति अथ यदैव जायां विन्दतेऽथ प्रजायते तर्हि सर्वो भवति, तथा चैतद् वेदविदो विप्रा वदन्ति यो भर्ता सैव भार्या स्मृता" इति॥

भावार्थ यह है कि पत्नी और सन्तान के बिना मनुष्य एक प्रकार से असम्पूर्ण अधूरा सा रहता है। विवाह संस्कार के द्वारा पत्नी के मिलने और सन्तान उत्पन्न होने पर वह अधूरापन बहुत कुछ दूर हो जाता है इसलिये वेदज्ञ विद्वान् पति पत्नी को अलग २ न मानते हुए एक ही मानते हैं। मनुस्मृति के इस समय तक जितने श्लोक उद्धृत किये गये हैं उनके अन्दर देवियों के विषय में बड़े सम्मानसूचक भाव प्रकट किये गये हैं, पर निम्न लिखित श्लोक भी उसी मनुस्मृति के अन्दर मनु के नाम से इन उत्तम भावसूचक श्लोकों के ठीक बीच में पाये जाते हैं जो स्त्रियों

को स्वभाव से ही नीच बतलाते हुए उनके प्रति तुच्छता और घृणा के भाव को उत्पन्न किये बिना नहीं रह सकते। श्लोक ये हैं।

नैता रूपं परीक्षन्ते, नासां वयसि संस्थितिः।
सुरूपं वा विरूपं वा, पुमानित्येव भुञ्जते ॥ १४ ॥
पौंश्चल्याच्चलचित्ताच्च, नैस्नेह्याच्च स्वभावतः।
रक्षिता यत्नतोऽपीह, भर्तृष्वेता विकुर्वते ॥ १५ ॥
एवं स्वभावं ज्ञात्वासां, प्रजापति निसर्गजम्।
परमं यत्नमातिष्ठेत्पुरुषो रक्षणं प्रति ॥ १६ ॥
शय्यासनमलङ्कारं, कामं क्रोधमनार्जवम्।
द्रोहभावं कुचर्यां च, स्त्रीभ्यो मनुरकल्पयत् ॥ १७ ॥
नास्ति स्त्रीणां क्रियामन्त्रैरिति धर्मे व्यवस्थितिः।
निरिन्द्रिया ह्यमन्त्राश्च, स्त्रियोऽनृतमिति स्थितिः ॥१८॥

इन श्लोकों के अन्दर देवियों के स्वभाव पर जो लाञ्छन लगाये गये हैं वे इतने कठोर और अन्याय्य हैं कि एक आत्मसन्मान युक्त देवी की आँखें उन को पढ़ते हुए लाल हुए बिना नहीं रह सकतीं। इन श्लोकों का शब्दशः अनुवाद देना भी एक तरह से मातृनिन्दा का पाप करना है। न जाने किस नीच ने इन श्लोकों को मनु के नाम से स्मृति के अन्दर डाल देने की अक्षन्तव्य धृष्टता की है। इन में कहा है कि स्त्रियों को भोग करने की इच्छा इतनी प्रबल होती है कि रूप, सुन्दरता, आयु किसी बात की पर्वाह नहीं करती हुई वे पुरुष समझ कर भोग करने लग जाती हैं। पुरुष को देखते ही इनका चित्त चंचल हो जाता है, चित्त इनका सदा अस्थिर होता है, स्नेह वा प्रीति का इनके अन्दर अभाव रहता है (कितना झूठ शोक!) इस लिये कितनी भी इन स्त्रियों की रक्षा करो ये पतियों के ऊपर विकार भाव को प्राप्त होती हैं (कुल्लूक, टीका में 'व्यभिचाराश्रयेण भर्तृषु विक्रियां गच्छन्ति' ऐसा लिखता है) प्रजापति

परमेश्वर ने इन स्त्रियों का स्वभावही ऐसा व्यभिचारादि करने का बनाया है ऐसा जान कर पुरुषों को चाहिये कि स्त्रियों की रक्षा करने में वे बड़ा भारी यत्न करें। श्लो० १७ और १८ तो महा घृणित हैं। स्त्रियों के लिये मनु ने शय्या पर सोना, बैठना, भूषण पहनना, काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह, दुराचार ये सृष्टि के आरम्भ में नियत कर दिये हैं। स्त्रियों की मन्त्रों द्वारा क्रिया नहीं हो सकती ऐसी धर्म की मर्यादा है। स्त्रियों की इन्द्रियां न होने के बराबर हैं वे मन्त्र रहित हैं इस लिये स्त्रियां झूठ के समान अशुभ हैं (अनृतवदशुभाः स्त्रिय इति शास्त्रमर्यादा—कुल्लूकः) ये नीच भाव हैं जो धूर्त लोगों ने मनु के नाम पर कल्पित कर लिये हैं। क्या मनु महाराज जिन को सब से अधिक प्रामाणिक धर्मशास्त्रकार माना गया है जिन के विषय में ताण्ड्य महाब्राह्मण में यहां तक कह दिया है कि "यत्किंचन मनुरवदत् तद् भेषजं भेषजतायाः॥" अर्थात् मनु ने जो कुछ कहा है वह औषधों का भी औषध है—सामाजिक दोषों को दूर करने का सब से उत्तम साधन है, वही मनु जिन्होंने ने ३ य अध्याय में स्त्रियों को 'पूज्या' 'महाभागा' और 'गृहदीप्ति' बताते हुए उन्हें साक्षात् श्री के समान कहा है वही मनु जिन्हों ने माता को १००० उपाध्यायों के समान पूज्या कहा है क्या यह सम्भव है कि उन्हीं मनु महाराज ने पागल के समान इन नीच भावपूर्ण विरोधी सर्वथा वेद विरुद्ध भावों का स्वयं प्रकाश किया हो। हमारा तो ऐसा मानने को दिल नहीं करता, मनु महाराज का ऐसा पागलपन हम मानने को तैयार नहीं हो सकते। श्लो० १७ के अन्दर काम, क्रोध, कुटिलता, द्रोह, दुराचार ये सब दुर्गुण स्त्रियों में रख दिये हैं भला कौन होता है इन नीच भावों का संसारभर की स्त्रियों के अन्दर रखने वाला? क्या मनु को यह बात लिखते हुए शर्म भी न आई? कौनसा बड़ा अच्छा काम कर दिया जिस के लिये अपने ऊपर यह

स्त्रियों के अन्दर दुराचारादि रखने का श्रेय लिया जाए और इसका संसार भर में धर्म शास्त्र के नाम पर ढिंढोरा पीटा जाए! यह शैली ही साफ़ बताती है कि ये श्लोक किसी धूर्त ने मनु के नाम से मिला दिये हैं। उस धूर्त को इतनी मन घड़न्त नीच कल्पना करने पर ही सन्तोष नहीं हुआ। श्लो० १९ में वह 'तथा च श्रुतयो बह्व्यो निगीता निगमेष्वपि ॥' कह कर वेद में से अपने इन नीच भावों का समर्थक प्रमाण ढूंढने में भी न हिचकिचाया। कितने दुःख और लज्जा की बात है। इन घृणित भावों को सचमुच मनु का ही लेख मान कर संस्कृत की प्रसिद्ध विदुषी पण्डिता रमाबाई सरस्वती, इङ्गलैन्ड में जा कर ईसाइयों के चंगुल में फंस गईं, इसका प्रत्येक आर्य को भारी शोक रहेगा। आपने अमेरिका में लिखे हुए "High caste Hindu woman" नामक अंग्रेजी ग्रन्थ में ये उद्गारपूर्ण शब्द लिखे हैं।

"Those who diligently and impartially read Sanskrit literature in the original, can not fail to recognise the law giver Manu as one of those hundreds who have done their best to make woman a hateful being in the world's eye. She, the loving mother of the nation, the devoted wife, the tender sister and affectionate daughter is never fit for independence and is 'as impure as falsehood itself."

She is never to be trusted; matters of importance are never to be committed to her. I can say honestly and truthfully, that I have never read any sacred book in Sanskrit literature

without meeting this kind of *hateful* sentiment about women. True, they contain here and there a kind word about them, but such words seem to me a heartless mockery after having charged them, as a class with crimes and evil deeds. "High caste Hindu woman." P. 30-31.

पण्डिता रमा बाई के ऊपर उद्धृत किये हुए लेख का भावार्थ यह है कि मनु उन सैंकड़ों लोगों में से एक है जिस ने स्त्री जाति को संसार की दृष्टि में घृणित बनाने का सिर तोड़ यत्न किया है। उसने बताया है कि स्त्री कभी स्वतन्त्रता के योग्य नहीं। उसपर कभी विश्वास न करना चाहिये! आवश्यक मामलों में उस से कभी सलाह न लेनी चाहिये। मैं सच कहती हूं कि संस्कृत साहित्य का एक भी ऐसा धर्म ग्रन्थ मैंने नहीं पढ़ा जिस में स्त्रियों के विषय में ऐसे घृणासूचक भावों का प्रकाशन किया गया हो। यह सत्य है कि कहीं २ पर इन ग्रन्थों में स्त्रियों के प्रति दयालुता का उपदेश करने वाले वाक्य भी पाये जाते हैं, पर जब कि स्त्री जाति मात्र की नीचों और अपराधियों के साथ गणना कर दी गई है तो उस के साथ आये हुए ये वाक्य मुझे केवल असत्य, उपहास मात्र मालूम होते हैं॥"

पण्डिता रमाबाई के इन उद्गारों साथ हमारी पूरी सहानुभूति है। किन्तु हमारा दृढ़ विश्वास है कि स्त्रियों के प्रति उच्च भाव सूचक वाक्य हैं।

"शुद्धाः पूता योषितो यज्ञिया इमाः।"

अथर्व ११ । १ । १७ तथा २७ ॥

इत्यादि वेद वाक्यों के जिन में स्त्रियों को शुद्ध पवित्र और पूजनीय कहा है, अनुकूल होने के कारण मनुस्मृत्यादि धर्म ग्रन्थों के असली

भाग और उनके विरोधी भाव पीछे की मिलावट हैं यद्यपि यह सत्य है कि वेद के अतिरिक्त सारे संस्कृत साहित्य में ये दोनों ही भाव साथ २ मिले हुए पाये जाते हैं जिन्हें देख कर पण्डिता रमा बाई जैसी विदुषी देवी ऊपर दिये हुए भाव प्रकट किये बिना न रुक सकी।

मनुस्मृति के असली भाग में स्त्रियों के प्रति सन्मान सूचक भाव पाये जाते हैं इस में हमें सन्देह नहीं प्रतीत होता किन्तु स्त्रियों को वेदाध्ययनादि का अधिकार है वा नहीं इस विषय में मनुस्मृति के अन्दर कोई स्पष्ट विधान नहीं। न केवल इतना ही बल्कि।

> अमन्त्रिका तु कार्येयं स्त्रीणामावृदशेषतः।
> संस्कारार्थं शरीरस्य यथाकालं यथाक्रमम् ॥ ६६ ॥
> वैवाहिको विधिः स्त्रीणां संस्कारो वैदिकः स्मृतः।
> पतिसेवा गुरौ वासो गृहार्थोऽग्निपरिक्रिया ॥६७॥
>
> मनु० अ० २ ॥

ये जो दो श्लोक विद्यमान हैं उन से अनेक सज्जन इस परिणाम पर पहुंचते हैं कि मनु ने स्त्रियों के लिये वेदाध्ययन के अधिकार को स्वीकार शायद नहीं किया, तभी श्लो० २। ६६ में उसने कहा है कि स्त्रियों के जातकर्मादि सब संस्कार बिना मन्त्रों के करने चाहिये, हां, विवाह संस्कार वैदिक मन्त्रों से करना चाहिये। पति की सेवा ही स्त्री के लिये गुरुकुल में वास के समान है और घर का काम ही उस के लिये अग्निहोत्र है। दूसरे सज्जनों के विचारानुसार इनमें से पहले श्लोक में जो 'अमन्त्रिका' शब्द आया है उसका अर्थ सर्वथा मन्त्ररहित यह नहीं किन्तु 'अल्पमन्त्रिका' अर्थात् कुछ मन्त्रों सहित ऐसा है। 'नञ्' का प्रयोग केवल 'अभाव' अर्थ में ही नहीं होता बल्कि सादृश्य, भिन्नता, अल्पता, अप्रशस्तता, विरोध आदि में भी होता है जैसा कि—

"तत्सादृश्यमभावश्च, तदन्यत्वं तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं विरोधश्च, नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

(शब्दकल्पद्रुम से उद्धृत) इस प्रसिद्ध श्लोक में बताया गया है। अल्पता का उदाहरण 'अनुदरी कन्या' यह है जिसका अर्थ 'अल्पोदरी' अर्थात् छोटे पेट वाली कन्या है। 'अल्पमन्त्रिका' कहने का तात्पर्य यह है कि कन्याओं के 'यथाकालं, यथा श्रुतम्' समयानुसार तथा श्रुति वचनानुसार सब संस्कार (अशेषतः) सम्पूर्ण तया होने चाहियें किन्तु उनमें उन सम्पूर्ण मन्त्रों का बोलना आवश्यक नहीं जिनका बालकों के संस्कारों में। क्योंकि मेखला बन्धनादि का कन्याओं के लिये विधान नहीं।

'वैवाहिको विधिः स्त्रीणाम्' का अर्थ यह है कि विवाह सम्बन्धी विधि वैदिक संस्कार है तथा पति सेवा, गुरु कुल में वास करके वेदाध्ययन, गृह का कार्य, अग्नि होत्र ये सब स्त्रियों के कर्त्तव्य वेदानुसार बताये गये हैं। हमारे विचार में उपर्युक्त कल्पना निराधार नहीं किन्तु अत्यन्त विचारणीय है।

'विवाहविधिरेव स्त्रीणां वैदिकः संस्कार उपनयनाख्यो मन्वादिभिः स्मृतः। पतिसेवैव गुरुकुले वासो वेदाध्ययन रूपः।......तस्माद् विवाहादेरुपनयनस्थाने विधानादुपनयनादेर्निवृत्तिः।

यह कुल्लूक इत्यादि भाष्यकारों का व्याख्यान इसलिये ठीक नहीं कि 'एव' शब्द यहां अपनी तरफ़ से घड़ लिया गया है जो मूल में कहीं नहीं।

एक विचार यह भी है कि ये दोनों श्लोक पीछे की मिलावट हैं क्योंकि इन दोनों को हटा देने से प्रकरण में कोई फ़र्क नहीं आता। इनसे पूर्व श्लो० ६५ यह है कि—

"केशान्तः षोडशे वर्षे ब्राह्मणस्य विधीयते।
राजन्यबन्धोर्द्वाविंशे, वैश्यस्य द्व्यधिके ततः॥"

अर्थात् ब्राह्मण कुमार का १६ क्षत्रिय कुमार का २२ वें और वैश्य कुमार का २४ वें वर्ष केशान्त संस्कार होता है। इनके बाद अ० ६८ में कहा है।

एष प्रोक्तो द्विजातीनामौपनायनिको विधिः।
उत्पत्तिव्यञ्जकः पुण्यः कर्मयोगं निबोधत॥

अर्थात् यह द्विजों की उपनयन विषयक विधि बताई है अब कर्म-योग को जानो। इस प्रकार श्लो० ६५ के साथ श्लो० ६८ का सीधा सम्बन्ध है बीच के दो श्लोक अनावश्यक और अप्रासङ्गिक प्रतीत होते हैं।

प्रथम पक्ष की अपेक्षा यह पक्ष भी अधिक विचारणीय और सङ्गत मालूम देता है यद्यपि मेरा अपना झुकाव द्वितीय पक्ष की तरफ़ ही अधिक है।

मनु ने कन्या के लिये सम्बन्ध का निश्चय यद्यपि साधारण तौर पर पिता के हाथ में रखा है तो भी स्वयंवर का अधिकार कन्याओं के हाथ में दिया है यथा।

त्रीणि वर्षाण्युदीक्षेत कुमार्यृतुमती सती।
ऊर्ध्वं तु कालादेतस्माद् विन्देत सदृशं पतिम्॥
९। ९०॥

अर्थात् ऋतुमती होने के ३ वर्ष पीछे तक कुमारी प्रतीक्षा करे यदि उस समय के पश्चात् भी माता पिता योग्यवर की तलाश उसके लिये न कर सकें तो कन्या स्वयंवर का चुनाव करे। इस तरह करने से उसे कोई भी दोष नहीं लगता यह अगले श्लोक में साफ़ कह दिया है।

अदीयमाना भर्तारमधिगच्छेद् यदि स्वयम् ।
नैनः किंचिदवाप्नोति न च यं साधिगच्छति ॥

९ । ९१ ॥

संस्कृत साहित्य के प्रायः ग्रन्थों में पातिव्रत धर्म का बड़ा महत्व दिखाया गया है पति कितना भी नीच क्यों न हो उसको परमेश्वर के समान समझना चाहिये । यह भाव है जो प्रायः प्रत्येक ग्रन्थ में प्रकट किया गया है । उदाहरणार्थ वर्तमान मनुस्मृति में ऐसा कहा है ।

विशीलः काम वृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः ।
उपचर्यः स्त्रिया साध्व्या, सततं देववत्पतिः ॥

५ । १५४ ॥

जिसका अर्थ यह है कि पति कितना भी सदाचारहीन, कामी वा निर्गुण क्यों न हो, सती स्त्री को चाहिये कि उसकी परमेश्वर की तरह निरन्तर पूजा करे । यदि पुरुष स्वयं भी पत्नी के प्रति वैसे ही पूजा के भाव रखने को तय्यार हों, यदि विधवा स्त्री के लिये जैसे वे यथित तौर पर पुनर्विवाह का निषेध करते हैं, वैसे स्वयं भी अपनी पत्नी के देहान्त होने पर फिर विवाह न करें तो ऐसे विधानों में कोई भी अन्याय का भाव सूचित न हो, पर जब एक ओर पुरुषों को यथेष्ट विवाह करने और स्त्री से थोड़ा अपराध होने पर उसका परित्याग तक कर देने की आज्ञा धर्म ग्रन्थों तक में पाते हैं और दूसरी ओर स्त्रियों के कर्तव्य के बारे में इतने कठोर नियम और विधान पाते हैं तो न्यायशील, समानता के पक्षपाती विचारक यह कहे बिना नहीं रह सकते कि यहां स्त्री जाति के साथ पूर्ण न्याययुक्त बर्ताव नहीं किया गया । तथापि हमें इस बात का सन्तोष है कि मनुस्मृति के अन्दर इस विषय में अन्य ग्रन्थों की अपेक्षा अधिक उदारता और न्याय से काम लिया गया है । अ० ९ । ७७ ॥ में कहा है ।

संवत्सरं प्रतीक्षेत द्विषन्तीं योषितं पतिः।
ऊर्ध्वं संवत्सरात्त्वेनां, दायं हृत्वा न संवसेत् ॥

अर्थात् पति को चाहिये कि द्वेष करने वाली स्त्री की एक वर्ष तक प्रतीक्षा करे तब तक भी यदि उसके व्यवहार के अन्दर सुधार की कोई आशा न दिखाई दे तो फिर अपने भूषणादि उससे छीन कर उसके साथ सम्बन्ध तोड़ दे। श्लो० ८० में लिखा है कि स्त्री यदि मद्यपान करने वाली दुराचारिणी, प्रतिकूल या सदा बीमार रहने वाली हो तो उसके होते हुए भी पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। श्लो० ८१ में फिर कहा है।

वन्ध्याष्टमेऽधिवेद्याब्दे दशमे तु मृतप्रजा।
एकादशे स्त्रीजननी, सद्यस्त्वप्रियवादिनी ॥

अर्थात् स्त्री ८ वर्ष तक यदि सन्तान उत्पन्न न करे तो पुरुष पुनर्विवाह (अगर चाहे) कर सकता है, यदि सन्तान मर जाती हो, कन्या तो दसवें वर्ष और यदि केवल लड़कियां ही बार २ पैदा हों तो ११वें वर्ष और अप्रिय बोलने वाली हो तो तुरन्त उसका परित्याग करके पुरुष दूसरा विवाह कर सकता है। ऐसे श्लोकों की प्रामाणिकता के विषय में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ भी कहना बड़ा कठिन कार्य है। समाज के अन्दर यदि इन नियमों को अब काम में लाया जाने लगे तो बड़ी ही अव्यवस्था पैदा हो जाए तथापि जैसे पुरुष को इस विषय में स्वतन्त्रता दी गई है वैसे ही स्त्री को भी कुछ अंश तक यहां दी गई है इतनी बात बिना सन्देह के कही जा सकती है ९। ७६। में कहा है।

उन्मत्तं पतितं क्लीवमबीजं पापरोगिणम्।
न त्यागोऽस्ति द्विषन्त्याश्च न च दायापवर्तनम् ॥

अर्थात् पागल, व्यभिचारादि करने के कारण पतित, नपुंसक, निर्वीर्य, कोढ़ इत्यादि भयंकर रोगग्रस्त पति के साथ द्वेष करने वाली

अथवा उसका परित्याग तक करने वाली स्त्री का त्याग नहीं किया जा सकता और न उसका धन छीना जा सकता है। क्षतयोनि विधवा स्त्री के लिये विवाह का विधान नहीं पर तो भी मनुस्मृति के अन्दर नियोग द्वारा सन्तान उत्पन्न करने का विधान अवश्य है यदि वह चाहे। इस प्रकार के विधानों को देखते हुए इतना अवश्य कहा जासकता है कि मनुस्मृति में स्त्रियों के प्रति पर्याप्त न्याय करने का यत्न किया गया है यद्यपि पुरुषों के अधिकारों के प्रति पक्षपात से लेखक अपने को नहीं बचा सका। इस विषय में मनुस्मृति से एक और श्लोक का उल्लेख कर के जिस में स्पष्ट पुत्र और पुत्री को समान माना गया है हम दूसरे संस्कृत ग्रन्थों में स्त्रियों की स्थिति विषयक भावों की संक्षेप से आलोचना करेंगे। यह श्लोक इस प्रकार है।

यथैवात्मा तथा पुत्रः पुत्रेण दुहिता समा।
तस्यामात्मनि तिष्ठन्त्यां कथमन्यो धनं हरेत्॥

मनु० ९। १३०॥

अर्थात् पुत्र अपने ही आत्मा के समान होता है। पुत्र और पुत्री इस लिये अधिकारादि की दृष्टि से बराबर ही हैं। अतः अपने ही आत्मा के तुल्य पुत्री के होते हुए पिता के धन को और कोई कैसे ले सकता है जिस पुरुष का कोई पुत्र न हो तो उसकी सम्पत्ति पर अधिकार पुत्री का ही होना चाहिये। पण्डिता रमा बाई ने अपने ग्रन्थ में मनु के निम्न दो श्लोकों पर बहुत आपत्ति उठाई है, पर थोड़ा गम्भीरता के साथ विचार किया जाए तो इन में कोई विशेष आक्षेप योग्य बात नहीं मालूम होती।

अस्वतन्त्राः स्त्रियः कार्याः पुरुषैः स्वैर्दिवानिशम्।
विषयेषु तु सज्जन्त्यः संस्थाप्या आत्मनो वशे॥
पिता रक्षति कौमारे भर्ता रक्षति यौवने।
रक्षन्ति स्थविरे पुत्रा न स्त्रीस्वातन्त्र्यमर्हति॥

अर्थात् स्त्रियों को स्वतन्त्र नहीं करना चाहिये इस का अभिप्राय उन को दिन रात बांध कर अथवा पर्दे के अन्दर बन्द कर के रखना चाहिये यह नहीं है। उसका तात्पर्य तो इतना है कि उनके अन्दर उच्छृङ्खलता न आने देनी चाहिये। यह न हो कि वे दिन रात बाज़ारों और गलियों में अकेली चक्कर लगाती फिरें अथवा रात को नाचघरों या नाटक घरों में जा कर अपने धन स्वास्थ्य और आचार को ख़राब किया करें। साथ ही जहां तक सम्भव हो उन्हें पुरुषों की तरह अधिक संघर्ष और प्रतिद्वन्द्विता (Competition) में विशेषतः धन सम्बन्धी मामलों में नहीं पड़ने देना चाहिये, नहीं तो आजकल की अनेक पाश्चात्य जगत् की स्त्रियों की तरह उन के आन्तरिक स्वाभाविक गुणों का बहुत कुछ नाश हो जायगा। श्लो० ३ में कुमारी अवस्था में पिता रक्षक होता है, वृद्धावस्था में पुत्र उस की रक्षा करता है इस तरह स्त्री को कभी जीवन संघर्ष में पड़ने के लिये खुला नहीं छोड़ देना चाहिये, यही मनु का तात्पर्य है। पाश्चात्य देशों में Feminism इत्यादि आन्दोलनों के कारण स्त्रियों के अन्दर जो स्वतन्त्रता की लहर उठी है वह कई अंशों में उत्तम होते हुए भी मर्यादा का अतिक्रमण कर गई है और इस लिये आँख मूंद कर अनुकरण करने योग्य नहीं यह इसी अध्याय में आगे दिखाया जाएगा।

शुक्रनीति सार समाज शास्त्र की दृष्टि से एक अत्युत्तम और प्रसिद्ध ग्रन्थ है। बंगाल के प्रख्यात विद्वान् प्रो० विनय कुमार सर्कार ने उसी के आधार पर Positive back grounds of Hindu Sociology नामक पुस्तक लिखी है। उस में निम्नलिखित श्लोक बड़े महत्त्व पूर्ण हैं।

मनो वाक् कर्मभिः शुद्धा पतिदेशानुवर्तिनी।
छायेवानुगता स्वच्छा सखीव हितकर्मसु॥

दासीव दिष्टकार्येषु भार्या भर्तुः सदा भवेत् ।
संगीतैर्मधुरालापैः स्याद्यत्तस्तुपातिर्यथा ।
भवेत्तयाच्चिरयुक्ता मायाभिः कामकेलिभिः ॥
मितं ददाति हि पिता मितं भ्राता मितं सुतः ।
अमितस्य प्रदातारं भर्तारं का न पूजयेत् ॥

शु० नी० ४ । ४ ॥

इन श्लोकों में पतिव्रता देवी का आदर्श यह बताया है कि वह मन वाणी और कर्म से शुद्ध हो, पति का सदा साथ देने वाली हो, छाया की तरह पति के पीछे चलने वाली और स्वच्छ हो, हित कारक कार्यों में वह मित्र के समान पति की सहायता करने वाली हो और पति जो कार्य (शुभ) करने को कहे सेविका के समान वैसा ही करे । संगीत, मधुर भाषण तथा अन्य साधनों द्वारा पति को अपने अधीन और प्रसन्न रखने का यत्न करे । पत्नी को पति अपरिमित दान करने वाला होता है अतः पत्नी को चाहिये कि वह पति सेवा करने में सदा तत्पर रहे । यहां पर छाया की तरह पति के पीछे चलने और मित्र के समान हित कारक, सार्वजनिक कार्यों में पति की सहायता करने का जो आदर्श बताया गया है वह अत्युत्तम है । शोक इतना ही है कि आज कल पुरुषों ने पत्नियों को केवल दासी के समान आज्ञापालिका बनाने का यत्न तो कर रक्खा है पर मित्र के समान सहायिका बनाने का नहीं, जिस के लिये उच्च शिक्षा की विशेष आवश्यकता है । ऊपर दिये हुए उच्च भावों के साथ२ शुक्र नीति में ही यह श्लोक आया है ।

अनृतं साहसं माया मूर्खत्वमतिलोभता ।
अशौचं निर्दया दर्पः स्त्रीणामष्टौ स्वदुर्गुणाः ॥

शु० नी० ३ । १६४ ॥

इसमें कहा है कि असत्य भाषण, साहस, कपट, मूर्खता, अत्यन्त लोभ, अपवित्रता, निर्दयता, अभिमान ये स्त्रियों के अपने (स्वाभाविक) आठ दुर्गुण हैं। इस प्रकार के श्लोकों के विषय में वार २ टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं। सच्ची बात तो यह है कि निर्दयता, अभिमान, कपट, असत्य भाषणादि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में ही अधिक पाये जाते हैं। अच्छे सुशिक्षित सभ्य पुरुषों और विदुषी धार्मिक देवियों, दोनों में ही इन बुराइयों का अभाव रहता है इस लिये देवियों के प्रति अपमान सूचक ये भाव संस्कृत साहित्य पर एक बड़ा भरी कलङ्क और धूर्तों की लीला है इस में सन्देह नहीं॥

महाभारत के अन्दर स्त्रियों की स्थिति के विषय में जो अनेक श्लोक आये हैं उन में से शकुन्तलोपाख्यान में पाये जाने वाले निम्नलिखित श्लोकों का इस प्रकरण में उल्लेख कर देना अत्यन्तावश्यक मालूम होता है।

> अर्धं भार्या मनुष्यस्य, भार्या श्रेष्ठतमः सखा।
> भार्या मूलं त्रिवर्गस्य, भार्या मूलं तरिष्यतः॥
> भार्यावन्तः क्रियावन्तः, सभार्या गृहमेधिनः।
> भार्यावन्तः प्रमोदन्ते, भार्यावन्तः श्रियान्विताः॥
> सखायः प्रविविक्तेषु, भवन्त्येताः प्रियंवदाः।
> पितरो धर्म कार्येषु, भवन्त्यार्तस्य मातरः॥
> कान्तारेष्वपि विश्रामो जनस्याध्वनिकस्य वै।
> यः सदारः स विश्वास्यस्तस्माद् दाराः परा गतिः॥

म० भा० आदि पर्व अ० ७४। ४२। ४३। ४४। ४५॥

इन श्लोकों में बताया गया है कि पत्नी पुरुष का आधा अङ्ग है वही संसार में सब से श्रेष्ठ मित्र है। पत्नी धर्म, अर्थ और काम का मूल है और जो पुरुष दुःख से पार जाना चाहता है उस के लिये सहारा पत्नी

ही है। पत्नी के साथ ही पुरुष की विशेष रूप से क्रिया, शोभा और आनन्द यह सब कुछ होता है। प्रिय भाषण करने वाली पत्नियां जन शून्य स्थान में मित्र के समान होती हैं। वे ही धर्म युक्त कार्यों में पिता की तरह सलाह देने वाली, दुःखित वा रोगी पुरुष की माता के समान सेवा करने वाली होती हैं। जंगल में भी यात्री को विश्राम पत्नी से मिलता है। जिस की पत्नी विद्यमान है ऐसे पुरुष पर प्रायः लोग विश्वास करते हैं इस लिये पत्नी एक बड़ा भारी सहारा है॥

ये भाव कितने उच्च हैं यह प्रत्येक पाठक स्वयं अनुभव कर सकते हैं अंग्रेजी के प्रसिद्ध ग्रन्थों में स्त्रियों के विषय में जो उच्च से उच्च भाव प्रकट किये गये हैं उन में से नमूने के तौर पर प्रसिद्ध कवि मिल्टन के निम्न वाक्यों का उल्लेख किया जा सकता है

"Oh fairest of creation ! last and best of all God's works' Creature in whom excecalled what ever can to sight or thought be formed Holy, divine, good, amiable or sweet."

(Paradise Lost)

निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाए तो यह कहने में हमें संकोच नहीं कि वेद मनुस्मृति के वास्तविक भाग, शुक्र नीति और महाभारत में जो उच्च भाव प्रकट किये गये हैं वे किसी अवस्था में भी इन वाक्यों में प्रकाशित प्रशंसनीय भावों की अपेक्षा निचले दर्जे के नहीं। अब प्रसिद्ध कवि कालिदास के रघुवंश में से एक श्लोक का उद्धरण दिया जाता है जो पत्नी की मृत्यु से दुःखित अज के मुख से कहलाया गया है।

गृहिणी सचिवः सखी मिथः, प्रिय शिष्या ललिते कला विधौ।
करुणा विमुखेन मृत्युना, हरता त्वां वद किं न मे हृतम्॥

र० व० स० ८

यहां अज, पत्नी इन्दुमती को गृह स्वामिनी, सलाह देने वाले मन्त्री, मित्र और शिष्या के रूप में स्मरण करते हुए विलाप करता है कि निर्दय यम ने उसे हरण करते हुए मेरा एक तरह से सर्वस्व हर लिया है।

इन शब्दों के अन्दर जो भाव रक्खा गया है वह स्त्रियों के विषय में एक उत्तम कल्पना की सूचना देने वाला है इस में कोई संसय नहीं हो सकता।

स्त्रियों के प्रति अत्यन्त हीन भाव की सूचना देने वाले वर्तमान मनुस्मृति के कुछ श्लोकों का पहले निर्देश किया जाचुका है। संस्कृत साहित्य का कोई भी विद्यार्थी यह अनुभव किये बिना नहीं रह सकता कि संस्कृत के अधिकतर काव्यों नाटकों विशेषतः वेदान्त विषयक ग्रन्थों में स्त्री जाति मात्र के विषय में ऐसे हीन भावों का प्रकाश किया गया है कि जिन्हें देखकर हम सभ्य देशों के आगे सिर तक नहीं उठा सकते। श्री शङ्कराचार्य के नाम से 'प्रश्नोत्तरी' नामक एक छोटा सा वेदान्त का ग्रन्थ है, उसके चार पांच प्रश्नों के उत्तर यहां उद्धृत किये जाते हैं, जिनसे पता लगेगा कि वेदान्त वा मायावाद ने बहुत से अवैदिक भावों का हमारे देश में प्रचार किया।

अर्थात् नरक में जाने का एक द्वार कौन सा है। उत्तर देते हैं 'नारी' (शोक!) ऐसी वेद विरुद्ध और 'दाराधीनस्तथा स्वर्गः पितृणामात्मनश्च ह' इत्यादि स्मृति विरुद्ध बात को लिखते हुए लेखक को जरा भी संकोच न हुआ।

(२) श्लो० १५ में प्रश्न है।

प्र०—विज्ञान्महाविज्ञतमोऽस्ति को वा।

अर्थात् सबसे बड़ा ज्ञानी कौनसा है।

उ०—नार्या पिशाच्या न च वंचितो यः।

जिसे कभी स्पर्श राक्षसी ने धोखे में नहीं डाला। (शोक कहां तो वेद स्त्रियों के लिये 'काम्या' 'रम्या' चन्द्रा 'ज्योति' और 'देवी' शब्द का प्रयोग करें और कहां ये वेदान्त ग्रन्थ जो प्रत्येक नारी के लिये 'पिशाची' शब्द का प्रयोग करते हुए भी लज्जित नहीं होते।)

(३) उसी १५ वें श्लोक में प्रश्न है।

'का शृंखला प्राणभृतां'

मनुष्यों को बांधने वाली जंजीर कौन सी है। उत्तर देते हैं 'हि नारी' निश्चय से स्त्री ही वह जंजीर है।

(४) श्लो० १९ में प्रश्न है।

'विश्वासपात्रं न किमस्ति'

कौन है जिस पर कभी विश्वास न करना चाहिये। उत्तर देते हैं 'नारी'

(५) श्लो० २९ में प्रश्न है।

'किं तद्विषं भाति सुधोपमं'

वह कौन सा ज़हर है जो अमृत के समान प्रतीत होता है? उत्तर—'स्त्री'। जो लोग ऐसे २ मिथ्या वेदान्त के नाम से प्रसिद्ध ग्रन्थों का पाठ करते हैं यदि वे स्त्रियों के प्रति हीनतासूचक वाक्यों का प्रयोग करें और वैसा ही उनके प्रति व्यवहार करें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है। ऐसे २ ग्रन्थों को जिस देश में बड़े आदर की दृष्टि से देखा जाता है वहां लोग स्त्रियों को पैरों की जूतियों के समान तुच्छ समझने लग जाएं तो हैरानी की कोई बात नहीं। इन्हीं हीन भावों ने ही भारतवर्ष का बहुत कुछ नाश किया।

संस्कृत साहित्य के प्रसिद्ध नीतिग्रन्थ पञ्चतन्त्र में तो देवियों के प्रति हीनता के भाव दिखाने में हद ही करदी है। कोई २ श्लोक तो इतने घृणित हैं जिनका उल्लेख तक सभ्य समाज में नहीं किया जा सकता।

नमूने के तौर पर दो चार श्लोक साधारण अभिप्राय सहित नीचे दिये जाते हैं।

सुमुखेन वदन्ति वल्गुना, प्रहरन्त्येव शितेन चेतसा।
मधु तिष्ठति वाचि योषितां, हृदये हालहलं महद्विषम्॥
मित्रभेद श्लो० १९९।

अर्थात् स्त्रियां ऊपर २ से मधुर बात बोलती हैं पर तेज़ दिल से अन्दर २ प्रहार करती हैं। इनकी वाणी में शहद रहता है पर दिल में हलाहल विष। श्लो० २०१ में कहा है।

आवर्तः संशयानामविनयभवनं, पत्तनं साहसानां।
दोषाणां संनिधानं कपटशतगृहं क्षेत्रमप्रत्ययानाम्॥
दुर्ग्राह्यं यन्महद्भिर्नरवरवृषभैः सर्वमायाकरण्डं।
स्त्रीयन्त्रं केन लोके विषममृतयुतं धर्मनाशाय सृष्टम्॥

इस श्लोक में स्त्रियों को सन्देह का आवर्त (घुम्मरघेरी) अविनय का घर, साहसों का नगर, दोषों का खजाना, सैंकड़ों तरह के कपट का गृह, अविश्वास का खेत और माया का पुतला बताते हुए पूछा है कि ऐसे अमृत युक्त विष के समान स्त्री रूपी यन्त्र को धर्म के नाश के लिये संसार में किसने बनाया है! यह है प्रमाण या अभिनन्दन पत्र जो कि संस्कृत के प्रसिद्ध नीति शास्त्रकार ने स्त्री जाति के प्रत्येक सदस्य को दिया है (कितनी लज्जा, खेद और आश्चर्य की बात है!) श्लो० २०१ में लिखा है।

एता हसन्ति च रुदन्ति च कार्यहेतो-
र्विश्वासयन्ति च परं न च विश्वसन्ति।
तस्मान्नरेण कुलशीलवता सदैव
नार्यः श्मशानघटिका इव वर्जनीयाः॥

स्त्रियां अपना मतलब पूरा कराने के लिये हंसती हैं, रोती हैं, दूसरे को विश्वास कराती हैं, पर खुद किसी पर विश्वास नहीं करतीं। इसलिये कुलीन और सदाचारी पुरुषों को श्मशान में घड़े जैसे फोड़ दिये जाते हैं वैसे ही स्त्रियों का सदा परित्याग करना चाहिये अर्थात् उनके साथ किसी तरह का सम्बन्ध न रखना चाहिये।

बस अधिक श्लोकों का उल्लेख करके हम मातृ निन्दा का पाप अपने सिर पर नहीं लेना चाहते इसलिये अन्त में यही लिखकर इस शास्त्रीय दृष्टि के प्रकरण को समाप्त करते हैं कि वेदों के अन्दर स्त्रियों की स्थिति विषयक बड़े ऊंचे भाव पाये जाते हैं। मनुस्मृति, शुक्रनीति, महाभारतादि के असली भागों में भी स्थान २ पर वैसे ही उच्च भाव दृष्टि गोचर होते हैं। पर वेदान्त वा मायावाद के ग्रन्थों में झूठ मूठ वैराग्य का भाव पैदा करने के लिये स्त्रियों के प्रति अत्यन्त हीनता सूचक शब्दों का प्रयोग किया गया है। ये हीन भाव वेदादि सद् ग्रन्थ विरुद्ध होने के कारण परित्याज्य हैं। विस्तार के भय से इस विषय में ब्राह्मण ग्रन्थ गृह्य, सूत्र, पुराणादि में पाये जाने वाले भावों का उल्लेख नहीं किया जा सकता।

ऐतिहासिक दृष्टि

शास्त्रीय दृष्टि से समाज में स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में विचार करने के पश्चात् अब हम ऐतिहासिक दृष्टि से इस पर कुछ विचार करना चाहते हैं। इस इतिहास को निम्न लिखित ५ भागों में मुख्यतः विभक्त किया जा सकता है (१) वैदिक काल (२) रामयण काल (३) उपनिषत्काल (४) महाभारत काल (५) राजपूत काल

इन ५ कालों पर हम स्त्रियों की स्थिति की दृष्टि से एक सरसरी नज़र दौड़ाएंगे क्योंकि विस्तार करने से ग्रन्थ के बहुत अधिक लम्बा हो जाने का भय है।

(१) वैदिक काल में स्त्रियों की स्थिति

स्त्रियों की स्थिति के बारे में वेद में पाये जाने वाले उच्च भावों का पहले निर्देश किया जा चुका है। वैदिक काल का क्रमबद्ध कोई इतिहास इस समय उपलब्ध नहीं होता तो भी वैदिक ऋषिकाओं के नाम देखने से यह बात स्पष्ट प्रतीत होती है कि उस समय पुरुषों के समान स्त्रियां भी बेरोक टोक उच्च ज्ञान को प्राप्त करके उसका प्रचार किया करती थीं। ऋषि शब्द के अर्थ के विषय में पूर्वीय और पाश्चात्य विद्वानों के मत में बड़ा भेद है। भारतीय आर्य विद्वान् वेद को अपौरुषेय ईश्वरीय ज्ञान मानते हुए ऋषि का अर्थ मन्त्र बनाने वाला नहीं, बल्कि मन्त्रों के यथार्थ अभिप्राय को जानकर उसका प्रचार करने वाला ऐसा मानते हैं जिसके लिये

'ऋषयो मन्त्रद्रष्टारः यदेनांस्तपस्यमानान् ब्रह्म स्वयम्भ्वभ्यानर्षत् तदृषीणामृषित्वमिति विज्ञायते। ऋषिर्दर्शनात् स्तोमान् ददर्शेति।' (निरु०)

इत्यादि निरुक्त के वाक्य प्रमाण हैं। पाश्चात्य विद्वान् ऋषि का अर्थ मन्त्र की रचना करने वाला वा कवि ऐसा कहते हैं। यदि क्षण भर के लिये उनकी बात ही मान ली जाए तो भी हमें पता लगता है कि वैदिक काल में सैंकड़ों ऋषिकाएं हुई हैं जिनमें से कुछ एक के नाम इस प्रकार हैं।

गोधा घोषा विश्ववारा ऽपालोपनिषन्निषत्।
ब्रह्मजाया जुहूर्नाम अगस्त्यस्य स्वसाऽदितिः॥
इन्द्राणीचेन्द्रमाता च ब्रह्मवादिन्य ईरिताः॥

इसी तरह श्रद्धा, सरमा, शची, रात्री, इन्द्र, माता, इत्यादि अनेक ऋषिकाओं के नाम वेदों के सूक्तों के ऊपर दिये हुए हैं। धन्य वह समय होगा जब कि हमारी बहनें और माताएं इस प्रकार उच्च ज्ञान के प्रचार के पवित्र कार्य में तत्पर होंगी।

कन्याओं का उपनयन संस्कार होना चाहिये या नहीं इस विषय में बहुत वाद विवाद उठाया जाता है। किन्तु वैदिक काल में बालकों के समान बालिकाओं का भी उपनयन संस्कार होता था और वे यज्ञोपवीत धारण करते हुए ब्रह्मचर्य पूर्वक वेदाध्ययन करती थीं यह बात निश्चय पूर्वक कही जा सकती है। हारीतस्मृति (२१।२३) के अनुसार स्त्रियों को दो श्रेणियों में विभाग किया गया है ब्रह्मवादिनी और 'सद्योवधू'। ब्रह्मवादिनियों के विषय में लिखा है—

तत्र ब्रह्मवादिनीनामुपनयनमग्नीन्धनं
वेदाध्ययनं स्वगृहे भिक्षा चर्येति।*

अर्थात् ब्रह्मवादिनियों का उपनयन संस्कार अग्न्याधान, वेदाध्ययन और अपने घर में भिक्षा मांगकर निर्वाह यह सब कुछ होता है। सद्यो वधू स्त्रियों को भी वेदादि का साधारण ज्ञान दिया जाता था पर मुख्यतः उन्हें गृहस्थ सम्बन्धी शिक्षा दी जाती थी। ब्रह्मवादिनियों को ही नैष्ठिक ब्रह्मचारिणी और कौमार ब्रह्मचारिणी के नाम से भी पुकारा गया है जिससे मालूम होता है कि वे जीवन भर ब्रह्मचर्य पूर्वक रहती हुई आध्यात्मिक विद्याओं के पढ़ने पढ़ाने और प्रचार करने में अपना समय लगाती थीं। गोधा, घोषा, अपालआदि वैदिक ऋषिकाएं, गार्गी इत्यादि उपनिषत्काल की देवियां, तथा आत्रेयी, शबरी इत्यादि इसी ब्रह्मवादिनी श्रेणी के अन्दर आती हैं। यमचार्य ने इस विषय में कहा है।

पुराकल्पे कुमारीणां मौञ्जीबन्धनमिष्यते।
अध्यापनं च वेदानां सावित्रीवाचनं तथा॥

अर्थात् प्राचीन काल में कुमारियों के लिये भी ब्रह्मचारियों के समान

---

* देखो पराशर संहिता का सायण माधवीय भाष्य, आचार काण्ड १ अ० २ पृ० ८२ Government Central Book depot Bombay 1893. में मुद्रित।

मौंजी मेखलादि का धारण, वेदों का पढ़ना पढ़ाना और गायत्री का उपदेश यह सब किया जाता था।* कई मूल पुस्तकों में इस श्लोक को मनु के नाम से कहा गया है ऐसा पराशर माधवीय के सम्पादक पण्डित वामन शास्त्री ने बताया है यद्यपि वर्तमान मनुस्मृति में यह श्लोक नहीं पाया जाता। जो लोग स्त्रियों को वेद पढ़ने का अधिकार नहीं है, ऐसा बतलाते हैं उन्हें इस तरह के प्रमाणों पर निष्पक्षपात होकर विचार करना चाहिये। वेदों के अन्दर कई ऐसे मन्त्र हैं जिन्हें स्त्रियां तो उच्चारण कर सकती हैं पुरुष नहीं, उदाहरणार्थ यजु० ३। ६० में एक प्रार्थना आई है।

त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं पतिवेदनम्।
उर्वारुकमिव बन्धनादितो मुक्षीय मामुतः॥

इसमें विवाहार्थिनी कन्या ईश्वर से प्रार्थना करती है कि उसका पिता के घर से सम्बन्ध टूटने पर भी पति के गृह से सम्बन्ध सदा बना रहे। पुरुष इस प्रार्थना को नहीं कर सकता। इसी तरह यजु० ३७। २० में प्रार्थना है।

अरिष्टाऽहं सह पत्या भूयासम्॥

स्त्री कहती है कि मैं अपने पति के साथ नीरोग होकर रहूं। पुरुष इस प्रकार की स्त्री-लिङ्ग में प्रार्थना कैसे कर सकता है? दूसरी प्रकार ऋ० १०। १४५, १०। १५९ इत्यादि अनेक सूक्त हैं जो स्त्रियों के मुख से कहे जाने योग्य हैं। इनके अतिरिक्त—

समञ्जन्तु विश्वेदेवाः समापो हृदयानि नौ।
ऋ० १०। ८५। ४७॥

इत्यादि प्रार्थना पुरुष स्त्री दोनों मिलकर करते हैं। सैंकड़ों ऋषिकाओं के नाम और इन प्रार्थनाओं को होते हुए भी स्त्रियों को वेद पढ़नेका अधि-

* यह श्लोक भी उपर्युक्त पुस्तक पराशर माधवीय पृ० ८३ में उद्धृत है।

कार प्राचीन काल में नहीं था यह मानना वैदिक साहित्य से अनभिज्ञता प्रकट करने के सिवाय और कुछ नहीं। प्रसंगवश यहां ऋ० १०।१०९।४ में आये हुए मन्त्र का निर्देश कर देना अनुचित न होगा जिसमें स्पष्ट ही उपनीता शब्द का प्रयोग हुआ है। मन्त्र इस प्रकार है।

"देवा एतस्यामवदन्त पूर्वे सप्त ऋषयस्तपसे ये निषेदुः।
भीमा जाया ब्राह्मणस्योपनीता दुर्धां दधाति परमे व्योमन्॥

'उपनीता जाया' इन शब्दों से कन्याओं के उपनयन संस्कार की स्पष्ट सूचना मिलती है। इसके अतिरिक्त गोभिल गृह्यसूत्र के विवाह प्रकरण में—

प्रावृतां यज्ञोपवीतिनीमभ्युदानयन् जपेत सोमोऽददद् गन्धर्वाय।

ये शब्द आये हैं जिनसे स्त्रियों के यज्ञोपवीत धारण की स्पष्ट शब्दों में पुष्टि मिलती है। वैदिक काल में स्त्रियां जीवन के प्रत्येक विभाग में पतियों की अनुमता अर्थात् साथ देने वाली होती थीं यह बात संक्षेप से पहले दिखाई जा चुकी है।

(२) रामायण काल में स्त्रियों की स्थिति

रामायण काल में भी वैदिक काल की तरह स्त्रियों की अच्छी उन्नत स्थिति मालूम होती है। उस समय भी स्त्रियां वेद पढ़ती थीं, अग्निहोत्रादि का अनुष्ठान करती थीं और सन्ध्यावन्दन किया करती थीं इतना ही नहीं वे कभी २ अपने पतियों के साथ युद्ध क्षेत्र में जा कर उनकी सहायता किया करती थीं ऐसा रामायण के पढ़ने से पता लगता है। कौशल्या देवी के अग्निहोत्र करने का वर्णन इस प्रकार है।

सा क्षौमवसना नित्यं हृष्टा व्रतपरायणा।
अग्निं जुहोति स्म तदा मन्त्रवत् कृतमङ्गला॥

सुग्रीव की पत्नी तारा के लिये 'मन्त्रवित्' शब्द का प्रयोग किया गया है यथा—

ततः स्वस्त्ययनं कृत्वा मन्त्रविद् विजयैषिणा ।
वा० रा० ४ । १६ । १२ ॥

इस विशेषण से उसका वेदज्ञा होना स्पष्ट है । सीतादेवी के सन्ध्या करने का अनेक स्थानों पर वर्णन आया है । वह प्रकरण विशेष उल्लेख योग्य है जहां अशोकवाटिका में सीता की खोज करते हुए हनुमान् कहता है कि यदि सीता देवी जीवित हैं तो वह सन्ध्या करने के लिये इस नदी के तट पर अवश्य ही आवेंगी ।

सन्ध्याकालमनाः श्यामा ध्रुवमेष्यति जानकी ।
नदीं चेमां शुभजलां सन्ध्यार्थे वरवर्णिनी ॥
वा० रा० ५ । १४ । १९ ॥

उसका यह अनुमान ठीक ही निकला । कैकेयी के अपने पति दशरथ के साथ युद्ध क्षेत्र में जाने और कठिनाई के समय उसकी सहायता करने तथा उसी के कारण वर पाने की बात अत्यन्त प्रसिद्ध ही है । देवी सुमित्रा का अपने पुत्र लक्ष्मण को

रामं दशरथं विद्धि मां विद्धि जनकात्मजाम् ।
अयोध्यामटवीं विद्धि गच्छ तात यथासुखम् ॥

ऐसा उपदेश करना उस समय की देवियों की उच्च कर्तव्य बुद्धि का एक नमूना है । यह बात भी यहां उल्लेख कर देने योग्य है कि श्रीराम की अनुपस्थिति में सीता देवी से राज्यकार्य करने की प्रार्थना की जाए ऐसा भी एक प्रस्ताव वसिष्ठ की अध्यक्षता में की गई सभा में उपस्थित किया गया था जिस से मालूम होता है कि पुरुषों के समान ही योग्य स्त्रियों का भी राजगद्दी पर समान अधिकार समझा जाता था ।

(३) उपनिषत्काल में स्त्रियों की स्थिति

उपनिषदों के समय के विषय में पूर्ण निश्चय के साथ कुछ कहना कठिन है तो भी महाभारत से कुछ पूर्व वह समय माना जा सकता है। बृहदारण्यकोपनिषत् पढ़ने से पता लगता है कि उस समय पुरुषों के समान स्त्रियां भी भरी सभा में शास्त्रार्थों में शामिल होती थीं। जनक महाराज ने अपने समय के सब से बड़े ब्रह्मज्ञानी का पता लगाने के लिये बड़ी भारी सभा जुटवाई। उस समय के सब बड़े २ विद्वान् वहां उपस्थित हुए। याज्ञवल्क्य ऋषि का स्थान उन विद्वानों में सब से ऊंचा था। अन्य सब ने उसे परास्त करने का यत्न किया। ३ य अध्याय के ६ ठ ब्राह्मण में वर्णन है कि गार्गी ब्रह्मवादिनी ने 'सब का आधार क्या है' इस विषय में उस भारी सभा में याज्ञवल्क्य ऋषि से प्रश्न किया। गार्गी के प्रश्न पर और अन्त में याज्ञवल्क्य ने।

'गार्गि माति प्राक्षीः अनतिप्रश्न्यां वै देवतां पृच्छसि गार्गि मातिप्राक्षीः।'

'अर्थात् हे गार्गी! अधिक प्रश्न मत कर, तू ऐसे देवता के बारे में प्रश्न करती है जिस के विषय में अधिक नहीं पूछना चाहिये। इस लिये बस कर, ज़्यादह न पूछ' यह कह कर उसे चुप करा दिया। उसके प्रश्न का सन्तोषजनक तरीक़े से याज्ञवल्क्य ऋषि भी समाधान नहीं कर सके। यह पाठकों को वहां साफ़ पता लगता है। उसी ३ य अध्याय के ८ वें ब्राह्मण में गार्गी ब्राह्मणों को सम्बोधन करते हुए कहती है।

'ब्राह्मण भगवन्तो हन्ताहमिमं द्वौ प्रश्नौ प्रक्ष्यामि तौ चेन्मे वक्ष्यति न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।'

अर्थात् हे ब्राह्मण महानुभावो! मैं इस याज्ञवल्क्य से दो प्रश्न करती हूं यदि वह उनका ठीक २ उत्तर दे देगा तो मैं निश्चय से कहती हूं

कि तुम में से कोई उसे कभी नहीं जीत सकेगा। यह कर वह दो बड़े बुद्धिमत्ता के प्रश्न करती है जिनका सन्तोष प्रद उत्तर पाकर वह ब्राह्मणों से फिर कहती है कि—

'तदेव बहु मन्येध्वं यदस्मान्नमस्कारेण मुच्येध्वं न वै जातु युष्माकमिमं कश्चिद् ब्रह्मोद्यं जेतेति।'

अर्थात् मेरी बात को मान जाओ, नमस्कार करके इस से अपना पीछा छुड़ाओ, तुम में से कोई इस ब्रह्मवादी को जीत नहीं सकता। गार्गी के इन शब्दों से साफ़ पता लगता है कि उस समय याज्ञवल्क्य के बराबर या उस से दूसरे दर्जे की योग्यता गार्गी देवी की समझी जाती होगी। उस देवी का आत्म विश्वास भी विशेष महत्त्व पूर्ण है।

गार्गी ब्रह्मवादिनी के अतिरिक्त बृहदारण्यकोपनिषत् के चतुर्थ अध्याय के पञ्चम ब्राह्मण में मैत्रेयी ब्रह्मवादिनी का वर्णन आया है जिसने।

'येनाहं नामृतास्यां किमहं तेन कुर्यां यदेव भगवान् वेद तदेव मे ब्रूहि।'

यह कह कर याज्ञवल्क्य ऋषि से सम्पूर्ण ब्रह्मज्ञान प्राप्त किया और सांसारिक ऐश्वर्य से मुख मोड़ लिया।

उपनिषत्काल में स्त्रियों की स्थिति पर प्रकाश डालने वाले मुख्यतः ये दो ही उदाहरण हमें मिलते हैं इसलिये अधिक विस्तार अनावश्यक है।

(४) महाभारत काल में स्त्रियों की स्थिति

महाभारत काल में शिक्षा इत्यादि की दृष्टि से स्त्रियों की उन्नत दशा मालूम होती है। द्रौपदी, सत्यभामा तथा उस समय की अन्य स्त्रियां सुशिक्षिता थीं और उनका विवाह भी युवावस्था में स्वयंवर रीति से हुआ था। स्वयंवर की प्रथा उस समय न केवल क्षत्रियों में किन्तु ब्राह्मणों में भी प्रचलित थी यह स्पष्ट मालूम होता है। शान्तिपर्व अ० २२४

में देवल की कन्या सुवर्चला का स्वयंवर विधि से श्वेतकेतु के साथ विवाह वर्णित है। कन्या ने पिता को कहा कि अच्छे २ युवक विद्वानों को यहां एकत्रित करो तब मैं चुनाव कर लूंगी।

येभ्यस्त्वं मन्यसे दातुं मामिहानय तान् द्विजान्।
तादृशं तं पतिं तेषु वरयिष्ये यथातथम्॥
श्लो० ११॥

पिता ने कन्या की इच्छानुसार अनेक युवक योग्य पुरुषों के पास आमन्त्रण भिजवाया जिन में से श्वेतकेतु नामक विद्वान् को देख कर कन्या ने कहा।

ततः सुवर्चला दृष्ट्वा प्राह तं द्विजसत्तमम्।
मनसासि वृतो विद्वन्, शेषकर्ता पिता मम॥
वृणीष्व पितरं मह्यमेष वेदविधि क्रमः॥

अर्थात् हे विद्वान्! मैंने तुझे मन से चुन लिया है, शेष जो कुछ करना है वह मेरे पिता करेंगे। उनसे मेरे लिये प्रार्थना कर, यही वेद की विधि का क्रम है। श्वेतकेतु की इच्छा पर पिता ने अपनी कन्या उसे देदी, जिस पर श्वेतकेतु ने उसे ग्रहण करते हुए कहा।

यानि चोक्तानि वेदेषु तत्सर्वं कुरु शोभने।
मया सह यथान्यायं सहधर्मचरी मम॥

अर्थात् जो कुछ वेदोक्त कर्म है उनका तू मेरे साथ मिलकर पालन कर और इस तरह मेरे साथ धर्म का आचरण करने वाली बन। अन्त में श्वेतकेतु ने अपनी उस योग्य पत्नी को आत्मज्ञान दिया। यह कथा विशेष महत्त्व की है क्यों कि इस से यह स्पष्ट प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में पति का चुनाव बहुत कुछ कन्या के ही हाथों में होता था यद्यपि माता पिता की अनुमति आवश्यक समझी जाती थी। यहां

साफ़ तौर पर एप 'वेदविधिक्रमः' कह कर हमारी इसी पूर्वोक्त स्थापना की पुष्टि की गई है कि वेद के अनुसार वर वधू के ही हाथ में मुख्यतः सम्बन्ध निश्चय रक्खा गया है।

आदिपर्व अ० ८२ में शुक्र की कन्या देवयानी ने ययाति राजा का अपनी प्रसन्नता से चुनाव करते हुए पिता से कहा है।

राजाऽयं नाहुषस्तात, दुर्गमे पाणिमग्रहीत्।
नमस्ते देहि मामस्मै लोके नान्यं पतिं वृणे॥

अर्थात् इस राजा ने विपत्ति के समय मुझे आश्रय दिया इसलिये मेरा इसके साथ विवाह करा दो। इस संसार में मैं अन्य किसी को पति नहीं चुनूंगी। इस पर अनुमति देते हुए शुक्र ने ययाति को कहा—

वृतोऽनया पतिर्वीर सुतया त्वं ममेष्टया।
गृहाणेमां मया दत्तां महिषीं नहुषात्मज॥

इस मेरी कन्या ने तुम्हें पति रूप से चुन लिया है इसलिये तुम इसे ग्रहण करलो। अन्य भी इसी तरह के सैंकड़ों उदाहरण महाभारत में मिलते हैं जिन से पता चलता है कि उस समय स्त्रियों को पर्याप्त स्वतन्त्रता प्राप्त थी। जीवन के प्रत्येक विभाग में स्त्रियां पुरुषों का साथ दे सकती थीं। द्रौपदी के राज्य कार्य में युधिष्ठिरादि की सहायता करने और सत्यभामा के श्री कृष्ण के साथ युद्ध में जाकर शत्रुओं से अपने पति का बचाव करने का महाभारत में वर्णन आया है।

शान्ति पर्व अ० ३२५ में सुलभा नामक ब्रह्मवादिनी का वर्णन आता है जो नैष्ठिक ब्रह्मचर्य का व्रत धारण करके सन्यासवृत्ति से रहती थी। जनक महाराज को अपना परि चय देते हुए उसने कहा है।

साऽहं तस्मिन्कुले जाता भर्तर्यसति मद्विध।
विनीता मोक्षधर्मेषु चराम्येका मुनिव्रतम्॥

शां० प० ३२५। १८५॥

विदुला नामक योग्य देवी का वर्णन करते हुए महाभारत में लिखा है—

विश्रुता राजसंसत्सु श्रुतवाक्या मनस्विनी ।

इस से मालूम होता है कि उस समय की देवियों की बात राजसभाओं में भी सुनी जाती थी ।

यह सब होते हुए भी हमें स्वीकार करना पड़ेगा कि महाभारत के समय लोगों के अन्दर देवियों की पूजा का भाव नहीं रहा था । द्रौपदी जैसी विदुषी देवी का भरी सभा में दुःशासनादि द्वारा अपमान किये जाते हुए देख कर भी भीष्म, द्रोण, कृपाचार्य आदि का चुपचाप बैठे रहना यह इस बात का स्पष्ट प्रमाण है । बहुविवाह की प्रथा तो मालूम होता है उस समय आम तौर पर प्रचलित थी और उस समय के बड़े २ विद्वान् तक इसे अनुचित न समझते थे । स्वयं भीष्म ने अम्बिका, अम्बालिका का अपने भाई विचित्रवीर्य और कुन्ती, माद्री का पाण्डु के साथ विवाह करवाया । अर्जुन के कम से कम ४,५ विवाह हुए । बहुपत्नीकता के अतिरिक्त द्रौपदी के ५ पति होने की बात को यदि सत्य माना जाए (यद्यपि हमें इस की सत्यता में बहुत ही सन्देह है) तो उस समय की धार्मिक स्थिति के विषय में कुछ भी अच्छी सम्मति नहीं बनाई जा सकती ।

महाभारत के पश्चात् के काल में भी कई २ प्रसिद्ध विदुषी धार्मिक देवियां होती रहीं ऐसा इतिहास से स्पष्ट पता लगता है । यहां दो का नाम उल्लेख योग्य है एक तो वह राजकुमारी जिसने बौद्ध मतका ज़ोर होते हुए देख कर यह आर्तनाद किया था—

किं करोमि क्व गच्छामि को वेदानुद्धरिष्यति ।

जिसके उत्तर में कुमारिल भट्ट ने कहा ।

मा विभेषि वरारोहे भट्टाचार्योऽस्ति भूतले ।

अर्थात् हे देवि ! मत डरो जब तक भट्टाचार्य इस संसार में है तब तक वेदों का लोप नहीं हो सकता। दूसरी देवी जिस का हम बड़े अभिमान के साथ नाम ले सकते हैं वह प्रसिद्ध मीमांसक मण्डन मिश्र की पत्नी भारती या विद्याधरी थी जिसकी विद्वत्ता इसी से पता लग सकती है कि शंकराचार्य और मण्डन मिश्र जैसे अपने समय के दो बड़े भारी पण्डितों के विवाद में उसे दोनों की सम्मति से मध्यस्थ नियत किया गया और पति को हारा देखकर वह स्वयं १२ दिन तक शंकराचार्य जैसे अद्वितीय विद्वान् के साथ यह कह कर शास्त्रार्थ करती रही कि अभी तुम ने आधे मण्डन मिश्र को हराया है मुझे परास्त किये बिना तुम मण्डन मिश्र पर विजयी नहीं कहला सकते क्योंकि मैं उसकी अर्धाङ्गिनी हूं।

अपि तु त्वयाद्य न समग्रजितः प्रथिताग्रणीर्मम पतिर्यदहन्।
वपुरर्धमस्य न जितामेतिमन् अपि मां विजित्य कुरु शिष्यमिमम्॥
अथ साकथा प्रववृते रमतयोरुयोः परस्पर जयोत्सुकयोः।
मतिचातुरी रचितशब्दभरी श्रुति विस्मयीकृत विचक्षणयोः॥

धन्य हो विद्याधरी, भारति ! तुम धन्य हो तुम ने न केवल स्त्री जाति की शान रक्खी बल्कि अपना नाम सदा के लिये अमर बना दिया। भारतीय विदुषी देवियों का स्मरण करते हुए लोग बड़े अभिमान के साथ तुम्हारा नाम लेते रहेंगे।

बौद्ध काल में भी अनेक भारत की सुपुत्रियां धर्म प्रेम के मद से मत्त होकर सब प्रकार की कठिनाइयों को झेलते हुए लङ्का इत्यादि द्वीप द्वीपान्तरों में जाकर प्रचार करती रहीं। सुप्रसिद्ध महाराज अशोक की पुत्री सुभद्रा कुमारी का नाम यहां विशेष उल्लेख योग्य है जो अपने भाई महेन्द्र के साथ लङ्का में जाकर स्त्रियों के अन्दर बौद्ध धर्म का प्रचार करने में बहुत सफल हुई। धन्य थी वह राजकुमारी जिसने राज महल

के सब आनन्दों को लात मारते हुए धर्मसेवा में अपने पवित्र जीवन को समर्पित कर दिया।

राजपूत काल में स्त्रियों की स्थिति

अन्त में हम राजपूत काल पर आते हैं जिस के वीर राजपूतों के कारनामे और राजपूतनियों के साहस मुर्दों में भी जान फूंकने की ताक़त रखते हैं। एक से एक बढ़ कर वीरता के भाव को लिये हुए देवी हमारे सामने उपस्थित होती है। राणा सांगा के शूरवीर भाई पृथ्वीराज की वीरपत्नी ताराबाई का उदाहरण हमारे सामने है जो इसी शर्त पर विवाह करती है कि उसका (भावी) पति थोदा नामक नगर को जो अफ़गानों के हाथ में चला गया था फिर वापिस करेगा। अफ़गानों के साथ लड़ाई में वह अपने पति का छाया की तरह साथ देती है। उसकी वीरता राजपूताने के इतिहास में प्रसिद्ध है।

दूसरा उदाहरण गुर्राह की रानी दुर्गावती का है जो सेनानायिका बन कर आसफ़खान के साथ लड़ी और ज़ख़मी तथा परास्त होने पर उसने युद्ध क्षेत्र में ही आत्महत्या कर डाली।

तीसरा उदाहरण कर्म देवी नामक चित्तौर की रानी का है जो अपने पति के मरने पर स्वयं राजपूतों की सेनानायिका बन कर क़ुतुबुद्दीन के साथ लड़ती रही और उसे परास्त किया।

चौथा उदाहरण राजमाता जवाहिर बाई का है जिसने गुजरात के बहादुर सुलतान के चित्तौर के किले पर आक्रमण करने पर स्वयं कवच धारण कर के सेनानायिका का काम किया और उसी लड़ाई में वह काम आई।

फत्ता नामक १६ वर्ष के वीर बालक की माता का उदाहरण चित्तौर के इतिहास में सदा प्रसिद्ध रहेगा। फत्ता पर जब सेनापतित्व का भार

आ पड़ा तो उसकी वीर माता ने अपने इस इकलौते बेटे को अपने हाथों से वसन्ती वाना और कवच पहनाया और इस ख्याल से कि कहीं नव-विवाहिता प्रिया का विचार उसे युद्ध क्षेत्र में वीरता से लड़ने के मार्ग में बाधक न हो, उस ने अपने को और फत्ता की पत्नी को कवच से सजा कर युद्ध क्षेत्र में प्रयाण किया। जब राजपूतों ने इस अद्भुत दृश्य को देखा तो उन को अपने जीवन की कुछ पर्वाह न रही और वे खूब वीरता से लड़ने लगे।

देहली के अन्तिम सम्राट् पृथिवी राज चौहान की वीर पत्नी संयुक्ता का नाम भी इस प्रसंग में उल्लेख योग्य है, जिसने अपने पिता जयचन्द की इच्छा के बिल्कुल विरुद्ध पृथिवीराज के गले में जयमाला डाली और अन्त में मुहम्मद ग़ौरी के आक्रमण के समय उसने न केवल अपने हाथ से अपने पति को कवच पहनाया बल्कि अपनी तथा देश की कीर्ति बचाने के लिये यदि तुम मर जाओगे तो मैं परलोक में फिर तुम्हें मिलूंगी यह कहते हुए उसे युद्ध के लिये जोश दिलाया। पृथिवीराज ने एक दिन अपना देखा हुआ भयंकर स्वप्न अपनी प्रिय पत्नी संयुक्ता को सुनाया, जिस पर उसने उत्तर दिया "ऐ चौहानवंश के सूर्य! मृत्यु न केवल मनुष्यों की बल्कि देवों की भी एक न एक दिन निश्चित ही है। सब पुराने वस्त्रों को बदलना और फेंक देना चाहते हैं किन्तु अच्छी तरह शान से मरना सदा के लिये अमर बनना है। इस तुच्छ शरीर की पर्वाह न करो बल्कि अमर होने का विचार करो। अपनी तलवार से शत्रुओं को काटो और मैं परलोक में भी तुम्हारी अर्धाङ्गिनी रहूंगी।"

इस वीर देवी ने अपने हाथ से अन्तिम समय भी पति को कवच पहना कर मुहम्मद ग़ौरी के साथ युद्ध करने को भेजा और स्वयं उपवास करते हुए यह कह कर प्राण परित्याग किये कि मैं सूर्य के लोक में अपने प्रिय पति को फिर मिलूंगी। धन्य हो वीर संयुक्ता देवि! तुम धन्य हो!

गत दो तीन सदियों के काल में भी झांसी की महारानी लक्ष्मीबाई और ग्वालियर की महारानी अहल्याबाई ने अपने वीरता युक्त प्रशंसनीय कारनामों से स्त्री-जाति के नाम को उज्ज्वल किया, पर उन सब के चरित्र देने से ग्रन्थ विस्तार का भय है इसलिये इस ऐतिहासिक दृष्टि के प्रकरण को यहाँ समाप्त करके भारतीय समाज में स्त्रियों की वर्तमान स्थिति क्या है इसपर थोड़ा विचार किया जाता है।

भारतीय स्त्रियों की वर्तमान स्थिति

वर्तमान समय में भी हमारे देश के अन्दर भारत माता के मुख को उज्ज्वल करने वाली योग्य देवियों का सर्वथा अभाव नहीं है। भारत ही नहीं अफ्रीका, अमेरिका, और इङ्गलैण्ड में अपनी योग्यता की छाप बैठाने वाली, बड़े २ धुरन्धर राजनीतिज्ञों तक के दिमाग़ को चक्कर में डाल कर अपने प्रभाव से फेर देने वाली, 'भारतीय बुलबुल' सरोजिनी देवी का नाम आज किस देशवासी के मुख पर नहीं है? सत्याग्रह आन्दोलन और असहयोग प्रचार में अद्भुत कार्य करने वाली, स्वर्गीय रामभजदत्त चौधरी की धर्मपत्नी श्रीमती सरला देवी बी० ए० श्रीयुत चित्त रञ्जनदास की योग्य धर्मपत्नी श्रीमती वसन्ती देवी, महात्मागान्धी की अनुरूप धर्मपत्नी श्रीमती कस्तूरी बाई और सविनय आज्ञा भंग (Civil Disobedience Movement) आन्दोलन में देशसेवार्थ कठिन सज़ा का दण्ड भोगने वाली हज़ारों देवियों के नाम इस बात के प्रमाण हैं कि भारत में अभी तक स्त्री-जाति अपने प्राचीन गौरव और परम्परा प्राप्त श्रेष्ठ गुणों को सर्वथा छोड़ नहीं चुकी, यद्यपि दुर्भाग्य से उनके विकसित करने का मौक़ा ही बहुत कम देवियों को नसीब होता है जिसके लिये भारतीय-समाज में प्रचलित सामाजिक बुराइयां ज्यादहतर ज़िम्मेदार हैं। उत्तरीय भारत और दक्षिण भारत का यदि इस विषय में मुकाबला किया जाए तो निःसंकोच कहा जा सकता है कि दक्षिण भारत

में स्त्रियों की अवस्था शिक्षा सभ्यता और स्वतन्त्रता की दृष्टि से उत्तर भारत की अपेक्षा कई गुणा अधिक अच्छी है। पर्दे की स्वास्थ्य विनाशक ही नहीं बल्कि घातक प्रथा का दक्षिण भारत में प्रायः कहीं प्रचार नहीं, कन्याओं को शिक्षा दिलाना इधर कुछ भी अनुचित वा लज्जाजनक नहीं समझा जाता। स्त्रियों को घर की चार दीवारी के अन्दर बन्द न करके उन्हें सभा समाजों में अपने साथ ले जाने अथवा भेजने में लोग दक्षिण भारत में न तो ऐसी लज्जा अनुभव करते हैं और न अनुचित समझते हैं जो उत्तर भारत के ऊंचे घरानों में पाई जाती है। स्त्री-शिक्षा का दक्षिण में अच्छा प्रचार है, यद्यपि इतना ज़रूर स्वीकार करना पड़ेगा कि वह शिक्षा सुशिक्षित स्त्रियों को प्रायः फ़ैशनों का गुलाम बना डालती है और इसलिये आदर्श से अभी बहुत दूर है। पर्दे की प्रथा न होने के कारण दक्षिण भारत में व्यभिचारादि अधिक पाया जाता है ऐसा मानने का कोई भी प्रमाण नहीं है, बल्कि यह कहा जा सकता है कि इसके कारण किसी तरह के बुरे भाव की साधारण तौर पर उत्पत्ति ही नहीं होती। अपवाद तो सभी बातों के सम्भव हैं। शिक्षिता होने के कारण दक्षिण भारत की स्त्रियों को देश की वास्तविक दशा के साथ अधिक परिचय है और इसलिये सार्वजनिक मामलों में वे उनका ज्यादह साथ दे सकती हैं। इतने अंशों में दक्षिण भारत में स्त्रियों की अवस्था कुछ उन्नत होते हुए भी बाल-विवाह की कुप्रथा अपने पूरे ज़ोरों पर है, यहां तक कि ऋतुमती होने से पहले २ (साधारण अवस्था में १२ या १२ वर्ष तक) उच्च ब्राह्मण-कुलों में कन्या के विवाह न होने पर माता पिता को न केवल जाति बहिष्कृत करने की धमकी दी जाती है बल्कि वास्तव में कई बार ऐसा कर भी दिया जाता है। विधवाओं की इधर भी वैसी ही दयनीय दशा है जैसी उत्तर भारत में, बल्कि ब्राह्मण विधवाओं की अवस्था तो बहुत ही शोचनीय है।

भारत में साधारणतया और शायद उत्तर भारत में विशेषतया लड़की की उत्पत्ति पर वह प्रसन्नता नहीं मनाई जाती जो लड़के के पैदा होने पर। पण्डिता रमाबाई ने अपनी 'उच्च जाति की हिन्दू स्त्री' वाली पुस्तक में बताया है कि कलकत्ते में उस की एक सहेली को पति ने कह रक्खा था कि खबरदार यदि पहली बार तुमने लड़की को जन्म दिया तो मैं फिर तुम्हारा मुख न देखूंगा। सौभाग्य से उसके पहला पुत्र उत्पन्न हुआ, नहीं तो न जाने क्या उस पर आफ़त आ जाती। देहली के आस पास के देहातों में अबतक भी लड़कियों के पैदा होने को इतना बुरा समझा जाता है कि माता पिता स्वयं उनका गला घोंट डालते हैं। ओह! कितनी क्रूरता और निर्दयता है! राजपूताने में भी यह प्रथा अभी तक पर्याप्त मात्रा में प्रचलित है। राजपूतों में यदि लड़का पैदा हो तो सब सम्बन्धी बधाई देने के लिये इकट्ठे होते हैं, ढोल बाजे बजाए जाते हैं और मिठाई बांटी जाती है, पर लड़की के पैदा होने पर पिता बड़ी अप्रसन्नता से कह देता है, 'कुछ नहीं पैदा हुआ' जिस पर बिना किसी तरह की खुशी मनाये कुछ शोकातुर से होकर सम्बन्धी घर वापिस लौट जाते हैं। इस तरह की सब प्रथाएं सिद्ध करती हैं कि वर्तमान भारतीय समाज देवियों की पूजा में (और इसीलिये सभ्यता में जैसा कि इस अध्याय के प्रारम्भ में बताया गया है) बहुत पिछड़ा हुआ है। स्त्रियों को घर की देवियां न समझकर प्रायः दासियों का स्थान दिया जाता है जो बड़े ही शोक की बात है।

शास्त्रीय दृष्टि से स्त्रियों की स्थिति पर विचार करते हुए यह बताया गया था कि वेद के अनुसार पत्नी को पति की अनुव्रता अथवा सखी के समान होना चाहिये पर जहां १०९ में से १ ही स्त्री अपने हस्ताक्षर कर सके वहां यह सम्बन्ध स्थापित ही कैसे रह सकता है! वेद वधू को सम्राज्ञी बनने का आदेश करता है। वेद के—

सम्राज्ञी श्वशुरे भव सम्राज्ञी श्वश्र्वां भव।
ननान्दरि सम्राज्ञी भव सम्राज्ञी उत देवृषु ॥

इस मन्त्र का ही मानों अंग्रेज़ी में अनुवाद करते हुए इङ्गलैङ्ड के प्रसिद्ध विचारक जॉन रस्किन ने स्त्रियों के आदर्श विषयक अपने "Of Queen's Gardens" शीर्षक निबन्ध में स्त्रियों को सम्बोधन करते हुए कहा है~

"queens you must always be queens to your lovers, queens to your husbands and sons, queens of higher mystery to the world beyond and the stainless sceptic of womanhood. But alas you are too often idle and careless queens.

जॉन रस्किन के अनुसार इङ्गलैन्ड की स्त्रियां आलसी और लापर्वाह रानियों के समान हैं पर भारत में तो वे बेचारी दासियों से उन्नत स्थिति, कहीं सौभाग्य या पूर्व जन्म के सुकृत विशेष से ही प्राप्त करती हैं। इसका कारण एक तो उनका अपना अज्ञान है और दूसरा गृहस्थाश्रम में प्रवेश करने वाले अशिक्षितों का ही नहीं बल्कि शिक्षित पुरुषों का भी अपने उत्तरदायित्व और कर्त्तव्य को न समझना है। बहुत से लोग विवाह सिर्फ़ इस लिये करते हैं क्योंकि दूसरे सब कोई ऐसा करते आये हैं। कई केवल भोजनादि की तकलीफ़ से बचने के लिये विवाह करते हैं, ऐसी अवस्था में उन्हें (भावी) स्त्री के अन्दर शिक्षा, उच्चभाव, संगीत, ललितकला, विज्ञान अथवा अन्य कोई गुण देखने की ज़रूरत ही क्या है, बस इतना पर्याप्त है यदि वह अच्छी रोटी बना सके और पात्र मांज सके। दो तीन चार सन्तान होने पर भी लोग केवल इसी रोटी के कष्ट को मिटाने के लिये १०, १२ वर्ष की कन्याओं के साथ विवाह करके अपना और उनका नाश करते हुए देखे गये हैं। जिस घर में पत्नी पति की अनुरूप योग्य सहायिका

हो अथवा वेद के शब्दों में 'अनुव्रता' हो ऐसा घर हज़ार में से एक भी कठिनता से मिलेगा। ऐसी हालत में स्त्रियों की ऊंची स्थिति क्या हो सकती है और गृहस्थ स्वर्ग धाम कैसे बन सकते हैं?

भारतीय समाज में विधवाओं की अत्यन्त शोचनीय अवस्था का चित्र खेंचना हमारी लेखनी की शक्ति के बाहर है। वैधव्य दुःख के सामने मृत्यु का दुःख बिल्कुल ही कुछ नहीं। कितनी भी छोटी आयु की विधवा क्यों न हो (५ वें अध्याय में दिखाया जा चुका है कि १ वर्ष से कम आयु की विधवाओं की संख्या ही एक हज़ार के लगभग है) उसके सिर को प्रायः (दक्षिण में यह आम रिवाज है) मूंड दिया जाता है। हरेक १५ वें दिन दक्षिण के ब्राह्मणों के घरों में विधवाओं के लिये सिर मुंडवाना आवश्यक समझा जाता है। विधवा अच्छे वस्त्र धारण नहीं कर सकती एक समय से अधिक भोजन नहीं कर सकती, पारिवारिक उत्सवों में वह कोई भाग नहीं ले सकती, मंगल समयों में वह अपना मुख नहीं दिखा सकती, प्रातःकाल विधवा का मुखदर्शन इतना अशकुन समझा जाता है कि ऐसा होने पर लोग यात्रा का विचार तक उस दिन के लिये स्थगित कर देते हैं। किसी तरह के भूषण पहनने की उसके लिये सख़्त मनाई होती है। धन्य है वह देवी जो अपनी इच्छा से आत्मसंयम पूर्वक इस प्रकार का सादा जीवन पति देवता के मरने पर व्यतीत करना और धर्म कार्यों में उसे लगाकर सफल करने का निश्चय करती है पर जिन बालिकाओं ने संसार को बिल्कुल देखा तक नहीं, जिनको विवाह क्या होता है, यह पता तक नहीं, उनको ऐसे एक व्यक्ति के मरने पर जिसके साथ कहीं से पकड़ कर बिना उनकी अनुमति वा ज्ञान तक के, जोड़ के विवाह संस्कार के नाम से तमाशा पुरोहितों द्वारा किया जा चुका हो, सदा के लिये ब्रह्मचारिणी रहने और जीवन के सब लौकिक आनन्दों से वञ्चित रखने के लिये बाधित करना कैसे उचित और न्यायसंगत माना जा सकता है? स्वयं

बाल्यावस्था से ऐसे ही कठिन वैधव्य दुःख का अनुभव करने वाली एक देवी की प्रार्थना के कुछ अंशों को हम यहां उद्धृत किये बिना नहीं रह सकते।

*हे प्रभो! मेरी प्रार्थना सुनो। हम ग़रीब स्त्रियों ने रोते और चिल्लाते हुए चारों ओर दृष्टि डाली, इस आशा से कि कोई हमें बचावेगा पर किसी ने हमारी तरफ़ आंख फेरने की कृपा नहीं की। ऊपर नीचे सब जगह हमने खोज की पर भगवन्! तू हमारी असमर्थता, अधोगति और अपमान को जानता है इसलिये केवल तू हमारी शिकायत को सुनेगा ऐसा हमारा विश्वास है।

हे पितः! हम इस जेल से कब छूटेंगी! किस पाप के कारण हमें इस क़ैद खाने में रहना पड़ रहा है? तेरे सिंहासन से न्याय की धारा बहती है पर वह हमारे तक पहुंचती नहीं। हमारे पास तो इस आजीवन दुःख में केवल अन्याय पहुंचता है। हे महाप्रभो! वे क़ैदी जिन्हें जीवन भर की सज़ा मिली है वे भी हमसे अधिक सुखी हैं, क्योंकि उन्हें संसार का कुछ तो ज्ञान है। वे जेलखाने में पैदा तो नहीं हुए थे, पर हमने एक दिन के लिये भी, नहीं नहीं, स्वप्नों में भी तेरे बनाये संसार को नहीं देखा, फिर हम तुझ जगत्कर्ता को कैसे जान सकती हैं? हम तो घर की चार दिवारी मात्र को देखती हैं। क्या हम इसी को संसार या भारतवर्ष कहें? हम इसी जेल में पैदा हुईं, यहीं मर गईं और अब भी मर रही हैं।

हे संसार के पितः! क्या तू ने हमें पैदा नहीं किया? क्या हमें शायद किसी दूसरे देव ने पैदा कर दिया है? क्या तू केवल पुरुषों की पर्वाह करता है? क्या हम स्त्रियों का तुझे कुछ ख़्याल नहीं? हे सर्वशक्तियुक्त प्रभो! समुद्र के समान विस्तृत अपनी दया पर विचार करके हमें याद

---

* "The High Caste Hindu Woman" by Pandita Rama Bai Sarasvati P. 48—49.

कर। हे ईश्वर! हमें बचा क्योंकि हम इस कठिन यातना को सहन नहीं कर सकतीं। हममें से बहुतों ने आत्महत्या कर डाली और अब भी कई कर रही हैं। हे दयासागर! हमारी तुझ से प्रार्थना यही है कि भारत की स्त्रियों से यह शाप उठ जाए। पुरुषों के दिल में कुछ सहानुभूति पैदा कर ताकि तेरी दया से हम भी जीवन के आनन्द का थोड़ा सा स्वाद ले सकें।

बस वैधव्य दुःख के विषय में अधिक लिखना अनावश्यक है। आर्य-समाज, ब्रह्मसमाज, विधवा विवाह सहायक सभा तथा कुछ अन्य सुधार-आन्दोलनों के द्वारा बाल विधवाओं के पुनर्विवाह की प्रथा पौराणिक लोगों तक में अब प्रचलित हो गई है, पर अभी तक इस विषय में यथेष्ट कार्य नहीं हुआ और इस तरह स्त्रियों की स्थिति बहुत कुछ पहले जैसी ही बनी हुई है। बहुत से पुरुष समझते हैं कि पढ़ लिख जाने पर स्त्रियां उनकी गुलामी में न रहेंगी, इस लिये वे जान बूझ कर उनको उच्च शिक्षा नहीं देना चाहते। इन उपर्युक्त कारणों से भारतीय समाज में स्त्रियों की इतनी शोचनीय दशा है। अब हम आवश्यक सुधारों पर थोड़ा विचार करेंगे और साथ ही संक्षेप से यूरोप और अमेरिका में स्त्रियों की स्थिति का दिग्दर्शन कराएंगे।

आवश्यक सुधार

कोई भी विचारशील पुरुष इस बात से इन्कार न करेगा कि स्त्रियों की भारतीय समाज में वर्तमान स्थिति शोचनीय है और उसमें बड़े भारी परिवर्तन की आवश्यकता है। स्त्रियों की स्थिति के प्रश्न का समाज की उन्नति और अवनति के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध है इसीलिये इतने विस्तार से यहां इस विषय पर विचार करना आवश्यक समझा गया है। इतिहास इस बात की साक्षि देता है कि स्त्रियों की स्थिति उन्नत होने की दशा में

ही किसी भी देश और जाति की उन्नति हुई है । आर्य (हिन्दू) जाति के इतिहास से इस बात के प्रमाण दिये जा चुके हैं । मुसल्मानी मत का प्रारम्भिक इतिहास भी इसी बात की साक्षि देता है । मुहम्मद साहेब की पहली स्त्री खादिजा ने २५ वर्ष तक उनके सब कार्यों में सहयोग दिया । उसकी मृत्यु के पश्चात् सबसे छोटी स्त्री आयशा ने प्रसिद्ध 'ऊंठ के युद्ध' में खूब भाग लिया । मुहम्मद साहेब की लड़की फ़ातिमा ने राजनैतिक विवादों में बड़ी प्रसिद्धि पाई । उनकी पौत्री ज़ैनब अपने वैयक्तिक और सार्वजनिक जीवन के लिये प्रसिद्ध रही । शासिका, अध्यापिका, प्रचारिका और धार्मिक संस्थाओं की निरीक्षिकाओं के रूप में उन दिनों की मुसलिम स्त्रियां मशहूर थीं । सुलतान बयाज़ीद १ के समय में स्त्रियां मस्जिदों और स्कूलों में व्याख्यान देती थीं । हरुनल रशीद की स्त्री जुबीदा एक प्रसिद्ध कवि थी । अन्य जातियों के इतिहास से भी इस स्थापना की पुष्टि के लिये सैंकड़ों प्रमाण पेश किये जा सकते हैं । सुधार होना चाहिये इस में किसी का मत भेद नहीं है प्रश्न है, कि किस दिशा में सुधार होना चाहिये ? क्या भारतीय समाज में भी स्त्रियों की उसी स्थिति को लाने का यत्न करना चाहिये जो पाश्चात्य देशों में विद्यमान है ? इसका उत्तर देने से पूर्व हमें पाश्चात्य समाज में स्त्रियों की जो आजकल स्थिति है उस पर एक सरसरी नज़र दौड़ा लेनी चाहिये ।

पाश्चात्य देशों में गत कई वर्षों से स्त्रियों को वोट देने का अधिकार प्राप्त कराने का तथा अन्य सब बातों में उन्हें पुरुषों के बराबर ही नहीं उनसे अधिक उच्च सिद्ध करने के लिये फैमिनिज़्म (Feminism) इत्यादि के नामों से कई आन्दोलन किये जारहे हैं जिनमें कई अंशों में सफलता अवश्य प्राप्त हुई है । मिस मार्गरेट वान्ड फ़ील्ड तथा मिस सूसन लॉरेन्स इत्यादि कुछ महिलाएं ब्रिटिश पार्लियामेन्ट की सदस्या हैं । मिसेज़ जोसेफ़ाइन बी० बेनेट तथा मिस एलिस पॉल अमेरिका के राष्ट्रीय दल

की नायिकाएं हैं। इङ्गलैन्ड की स्त्रियों की एक समिति की तरफ़ से हाल ही में एक रिपोर्ट प्रकाशित हुई है जिससे पता लगता है कि गत १० वर्षों में क्लार्क, स्टेनोग्राफ़र, टाइपिस्ट, पुस्तकविक्रेता, टेलिफ़ोन ऑपरेटर और दाई के व्यवसायों में ५० हज़ार स्त्रियों की वृद्धि हुई है।

व्यापार करने वाली स्त्रियों की संख्या आगे से दुगुनी होगई है। पब्लिक सर्विस में स्त्रियों की संख्या ६०.७ प्रतिशतक बढ़ गई है। उस रिपोर्ट के अनुसार हवाई जहाज़ में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या ८, आविष्कार करने वाली स्त्रियों की ५७, इञ्जिनीयर स्त्रियों की संख्या ४१, इमारत बनाने वालियों की १२७, महकमे जंगलात(Forest rangers) की २ और मालियों की २५ है। वैज्ञानिक, प्रचारिका, वकील, जज, कालेज प्रोफ़ेसर और सामाजिक स्वयं-सेविका के रूप में काम करने वाली स्त्रियों की संख्या गत १० वर्षों में आगे से तिगुनी हो गई है। किसानी, दर्ज़ी और घरेलू नौकरियों में स्त्रियां अब कम दिखाई देती हैं। गत १० साल के अर्से में इनकी संख्या में ३१.३ प्रतिशतक कमी हो गई है, इङ्गलैन्ड के अतिरिक्त अन्य पाश्चात्य देशों में भी प्रायः ऐसी ही स्त्रियों की स्थिति है। आर्थिक स्वतन्त्रता (Economic independence) प्राप्त करना स्त्री सुधार विषयक सब आन्दोलनों का एक मुख्य उद्देश्य है। रूस में सब विभागों में स्त्रियों को पुरुषों के समान—बल्कि उन से भी अधिक अधिकार दिये गये हैं। श्रीमती ऐलिडेन्ड्रिया कोलनटे रूस के सार्वजनिक हित विभाग (Publice Welfair Department) की अध्यक्षा हैं। स्वर्गीय लेनिन की धर्मपत्नी शिक्षा विभाग की संचालिका है। मिस फ़ेरीवा सोवियट सर्कार की मुख्य कार्यकारिणी समिति की मन्त्रिणी हैं।

यदि स्त्रियां अपनी दशा सुधारने और अनुचित दासता की शृङ्खलाओं को तोड़ने के लिये यह सब आन्दोलन करें तो सब न्यायप्रिय विचारकों

को दिल से खुशी मनानी चाहिये और भगवान् से उनकी सफलता के लिये प्रार्थना करनी चाहिये। पर खेद की बात यह है कि इन आन्दोलनों की जड़ में पुरुषों के साथ हरेक विभाग में प्रतिस्पर्धा (Competition) करके अपने को उनसे ऊंचा सिद्ध करने का भाव पाया जाता है। आर्थिक स्वतन्त्रता प्राप्त करके यूरोप और अमेरिका की स्त्रियां प्रायः अपने पतियों की कुछ भी पर्वाह नहीं करतीं। जब मर्ज़ी आती है वे घर से चली जाती हैं, जिसके साथ चाहे गले में हाथ डाल कर खुले बाज़ार तक में बात करतीं, घूमती और नाचती हैं और जब फिर जी चाहता है घर वापिस आती हैं। पति का यह पूछने का कोई अधिकार नहीं समझा जाता कि उसकी पत्नी इतनी देर लगा कर क्यों आई? ये बातें इतनी आम हो गई हैं कि कोई इन पर गम्भीरता से आक्षेप तक करने का साहस नहीं करता। सच पूछा जाए तो यूरोप में स्त्रियों ने स्वतन्त्रता नहीं किन्तु † लाइसेन्स (License) वा उच्छृङ्खलता प्राप्त कर ली है जिससे गृह जीवन का वास्तविक आनन्द कुछ थोड़े से अपवादों को छोड़ कर लुप्त सा होता चला जा रहा है। तलाक़ों की संख्या दिन ब दिन बढ़ती चली जा रही है और लोगों को लज्जा के स्थान में इस विषय में इतनी रुचि सी पैदा हो गई है कि वे एक नये दर्शक को कचहरी में ले जा कर तलाक़ विषयक मुक़द्दमा सुनने की खुद प्रेरणा करते हैं। फ्रान्स आदि में विशेषतः स्त्रियों ने अब ऐसे वैज्ञानिक तरीक़े ढूंढ निकाले हैं कि जिनसे सब किसी के साथ यथेच्छ खुल्लमखुल्ला सम्भोग कर सकें तो भी गर्भ-स्थिति की संभावना न रहे। विस्तार में न जाकर यहां उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए (जिसका न केवल पुस्तकों अथवा समाचारपत्रों से, बल्कि स्वयं जो लोग यूरोप में कई वर्ष लगा चुके हैं ऐसे यात्रियों से

† ये बातें श्रीयुत हरीन्द्रनाथ चट्टोपाध्याय से, जो स्वयं इङ्गलैण्ड इत्यादि में ५ वर्ष रह चुके हैं इस विषयक बात चीत करके लिखी गई है। नि० ले०

परिचय प्राप्त किया गया है) हम यह कहे बिना नहीं रह सकते कि इस स्वतन्त्रता, नहीं २ इसको स्वतन्त्रता कौन कह सकता है, इस उच्छृङ्खलता की हम भारतवासियों को ज़रूरत नहीं है। हां, हम यह अवश्य चाहते हैं कि स्त्रियों को किसी प्रकार के ऊंचे ज्ञान से केवल स्त्री होने के कारण वञ्चित न रक्खा जाए, विवाह सम्बन्ध निश्चयादि विषयक उन्हें स्वतन्त्रता दी जाए, अपना कार्य-क्षेत्र घर की चार दीवारी तक ही सीमित न रख के गृहकार्य प्रसन्नता पूर्वक करते हुए योग्य स्त्रियों को सार्वजनिक कार्य करने का अवसर दिया जाए। आवश्यकता पुरुषों और स्त्रियों की प्रतिस्पर्धा और विरोध की नहीं, बल्कि उनके पूर्ण सहयोग की है। इस विषय में The Position of Women in Indian Life नामक अपने ग्रन्थ की भूमिका में महारानी बड़ोदा ने जो कुछ लिखा है उससे हमारी पूर्ण सहमति है। वे लिखती हैं—

"What is required is not antagonism, but co-operation between the sexes; that woman needs the guidance of man to enable her to achieve the highest of which she is capable, as man needs woman's help and sympathy to aid him on his path through life."

अर्थात् आवश्यकता केवल स्त्री पुरुषों के सहयोग की है। स्त्री को अपनी योग्यता और शक्ति को विकसित करने के लिये पुरुष की और पुरुष को अपना जीवन मार्ग तय करने के लिये स्त्री की सहायता की और सहानुभूति की आवश्यकता है इसमें सन्देह नहीं हो सकता।

स्त्री और पुरुष में से कौन संसार के लिये अधिक उपयोगी और कौन श्रेष्ठ है यह प्रश्न ही मूर्खता को सूचित करता है। दोनों एक दूसरे की मानो पूर्ति करनेवाले (Complementary) हैं। पुरुष के

अन्दर शक्ति है, वह अधिक क्रिया शील और संघर्ष प्रिय है, बोझ विरोधी शक्तियों के साथ पुरुष जितनी योग्यता से लड़ सकता है स्त्री साधारणतया उतनी अच्छी तरह से लड़ नहीं सकती, पर इसी से उस को तुच्छता देना पागलपन है। घर के अन्दर एक मधुरतायुक्त शान्ति रखने, आन्तरिक प्रबन्ध करने तथा पारिवारिक मामलों में ठीक निर्णय करने की स्वभावतः स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में कम योग्यता पाई जाती है। निःस्वार्थ प्रेम, दया, न्याय, उदारता की दृष्टि से स्त्रियां साधारणतया पुरुषों से अधिक बढ़ी चढ़ी होती हैं। धर्म निष्ठा और भक्ति का भाव पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में प्रायः ज्यादह पाया जाता है। कइयों ने तो यहां तक कहने का साहस किया है कि यदि संसार में स्त्रियां न होतीं तो पुरुष राक्षस बन जाते। ऐसे कथनों में अत्युक्ति होते हुए भी वे सर्वथा निराधार नहीं कहे जा सकते। इस स्त्री पुरुषों की ऊंच नीच भावना के सम्बन्ध में प्रसिद्ध विचारक जॉन रस्किन ने कहा है कि पुरुष और स्त्री में से किसी एक को ऊंचा सिद्ध करने का यत्न करते हुए हम अक्षन्तव्य मूर्खता दिखाते हैं। क्योंकि दोनों ही एक दूसरे की पूर्ति करने वाले हैं। दोनों की प्रसन्नता और पूर्णता एक दूसरे को यथाशक्ति देने और उससे लेने में है।" †

बड़ी भारी आवश्यकता स्त्रियों को इस प्रकार की शिक्षा देने की है जिससे वे धर्म, देश और जाति की सेवा में अपने पतियों की पूर्ण सहायिका हो सकें। स्त्रियों के लिये सच्ची शिक्षा वही होगी जो उन्हें फ़र्ज़ानों

† We are foolish, and without excuse foolish, in speaking of the superiority of the one sex to the other. Each completes the other and is completed by the other. The happiness and perfection of both depends on each asking and receiving from the other what the other only can give.
— Sesame and Lilies P. 73.

का गुलाम न बना कर सादगी का जीवन व्यतीत करते हुए गृह के कार्य करने और साथ२ राष्ट्रीय कार्य में यथाशक्ति सहयोग देने के योग्य बना देवे जिसे प्राप्त कर के स्त्रियां अपने पतियों से वही हार्दिक अभिनन्दन प्राप्त कर सकें जो सुप्रसिद्ध मुक्ति फौज के व्यवस्थापक जनरल बूथ ने Darkest England नामक पुस्तक अपनी प्रियपत्नी को समर्पण करते हुए लिखा "The companion, consellor comrade and sharer of my every ambition for the welfare of man kind"।

आर्थिक स्वतन्त्रता की प्राप्ति के विषय में हमारा विचार यह है कि इस के लिये यत्न करने से गृहकार्य ठीक प्रकार नहीं हो सकता, सन्तान का पालन भली भांति करना कठिन हो जाता है और अपने पतियों के प्रति सन्मान कम हो कर प्रायः उसके बुरे परिणाम निकलने की सम्भावना रहती है इसलिये पतियों के जीवित रहते हुए स्त्रियों को इस तरह की स्वतन्त्रता को प्राप्त करने का यत्न करना उचित नहीं है। इसको पराधीनता समझना ही वस्तुतः एक भूल है। अच्छी देश सेवा के योग्य उत्तम सन्तान को पैदा करना ही एक बड़ा भारी काम है। हां, जो स्त्रियां विधवा हो गई हैं वे शिल्पों द्वारा अपनी आजीविका कर सकती हैं। संस्कृत साहित्य में स्त्री के लिये सर्वत्र भार्या शब्द का प्रयोग ही साफ़ बताता है कि सौभाग्यवती स्त्रियों को यह कल्पित 'आर्थिक स्वतन्त्रता' देना उनके अनुकूल नहीं। स्वयं वेद तक में 'ममेयमस्तु पोष्या' इत्यादि विवाह संस्कारोक्त मन्त्र भी इसी आशय की पुष्टि करते हैं।

स्त्रियों को वोट देने का अधिकार होना चाहिये वा नहीं इस विषय में चीनी राजनीतिज्ञ डा० व्यूटिंग फेंग ने अपनी जो सम्मति प्रकट की थी उसी को हम उद्धृत करना पर्याप्त समझते हैं। उनका कथन था

कि मेरी सम्मति में केवल विधवाओं और अविवाहित रहने वाली स्त्रियों को ही स्वतन्त्र वोट देने का अधिकार होना चाहिये क्योंकि पतिपत्नी तो वास्तव में एक ही हैं, अथवा उन्हें एक ही होना चाहिये।"

भारत में तो अभी तक इस प्रश्न को उठाने का मौका ही नहीं आया इसलिये इस पर अधिक लिखना व्यर्थ है।

भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति वाले इस सारे लेख का सार यह है कि (१) वेदादि सत्य शास्त्रों में स्त्रियों के विषय में बड़े सम्मान-सूचक भाव पाये जाते हैं यद्यपि मनुस्मृति आदि में बीच २ में धूर्तों ने मिलावटें बहुत कर दी हैं। (२) वैदिक, रामायण और उपनिषत्काल में स्त्रियों की स्थिति बहुत उन्नत थी। महाभारत और राजपूत काल में भी स्त्रियां आजकल की अपेक्षा बहुत अधिक स्वतन्त्रता सुख का अनुभव करती थीं (३) स्त्रियों की वर्तमान दशा साधारणतः सारे भारत और विशेषतः उत्तरीय भारत में बहुत शोचनीय है (४) स्त्रियों की दशा सुधारने के लिये शिक्षा तथा धार्मिक जागृति द्वारा ऐसा यत्न होना चाहिये जिससे वे पुरुषों के धार्मिक कार्यों में पूर्ण सहयोग दे सकें, परन्तु पाश्चात्य पद्धतियों का अन्धाधुन्धी से अनुकरण करना योग्य न होगा।

अष्टम अध्याय

पाश्चात्य समाजशास्त्रियों के सामाजिक विकासादि विषयक सिद्धान्तों की आलोचना

इस समय तक भारतीय समाज-शास्त्र के कुछ मुख्य २ तत्वों की व्याख्या की जा चुकी है। भारतीय समाज, सभ्यता तथा स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में भी तुलनात्मक विचार संक्षेप से किया जा चुका है। इस अन्तिम अध्याय में अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने विशेषतः हर्बर्ट स्पेन्सर, बेंजमिन किड इत्यादि समाज-शास्त्रियों ने जिस सामाजिक विकासवाद वा Social Evolution Theory का अपने Principles of Socialogy, Social Evolution, Principles of Western Civilisation इत्यादि ग्रन्थों में स्थान २ पर प्रतिपादन किया है उसकी संक्षेप से समालोचना करना आवश्यक मालूम होता है। इन विद्वानों ने प्रत्येक धार्मिक और सामाजिक विषयों में इसी विकासवाद को लागू करने का यत्न किया है। उनका विचार है कि पहले लोग पत्थर, वृक्ष, वनस्पति, सूर्य, चन्द्र इत्यादि की पूजा किया करते थे जिनके अन्दर वे चामत्कारिक शक्ति स्वीकार करते थे। धीरे २ बहु देवतावाद वा Poly-theism का प्रारम्भ हुआ। बहुदेवतावाद के अनन्तर हीन-देवतावाद वा Heno-theism की उत्पत्ति हुई जिसमें कि प्रत्येक देवता को स्तुति के समय तक सबसे बड़ा मान कर उपासक स्तुति करने लगे। इसके पश्चात् अद्वैतवाद (monism) की उत्पत्ति हुई जो कि केवल ब्रह्म को सत्य और अन्य सब पदार्थों को असत्य बतलाता है यह शुद्ध एकेश्वर वाद (Pure-mono-

theism) से बिल्कुल भिन्न है जिसकी शिक्षा यह है कि एक ईश्वर को छोड़कर जो सर्वव्यापक, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है अन्य किसी भी जड़ वस्तु के आगे सिर झुकाना या प्रार्थना करना न केवल अनुचित, बल्कि बड़ा भारी पाप है। कई विद्वानों के लेखनानुसार सबसे अन्तिम अवस्था नास्तिक वाद (Atheism) की है जिस में जगत्कर्ता ईश्वर की सत्ता से व्यक्ति इन्कार कर बैठता है और केवल भौतिक नियमों के द्वारा संसार की व्याख्या करने की चेष्टा करता है। धार्मिक विषय में विकास की दिशा उपर्युक्त प्रकार है सामाजिक विवाह संस्कार, रहन सहन, खान पान, सभासमिति, राज्य इत्यादि विषयों में भी क्रमशः विकाश होता गया है अर्थात् प्रारम्भ में विवाह सम्बन्धी कोई भी नियम न था धीरे २ बहु पत्नीत्व (polygamy) और बहुपतित्व (Polyandry) का प्रचार हुआ अन्त में होते २ वर्तमान सभ्य पाश्चात्य देशों में प्रचलित एकभार्यता (Monogamy) के नियम का विकास हुआ। रहन सहन के विषय में और खान पान के बारे में उनका कहना है कि पहले लोग गर्मियों में पत्तों से ढकी हुई छोटी २ झोंपड़ियों और सर्दियों में भूमि में गड्ढे खोद कर और उनपर बांसों की छत बांध कर रहा करते थे। धीरे २ उन्होंने हवादार बड़े २ मकानों और बङ्गलों में मौज से शान के साथ कुर्सी मेज़ बिजली के लैम्प पङ्खे इत्यादि साज समेत रहना सीखा। पहले वे हड्डियों की सुइयों के द्वारा चर्मसी कर उन्हें पहना करते थे धीरे २ कई सहस्रों अथवा लक्षों वर्षों में उन्होंने अच्छे शानदार वस्त्र पहनना सीखा। वे प्रारम्भिक लोग केवल सौ तक गिनती कर सकते थे। परिवार के बड़े मुखिया को ही वे राजा के समान मानते थे। परिवारों में स्त्रियों का शासन होता था। सम्पत्ति केवल पशुओं के रूप में उनके यहां मानी जाती थी, भूमि और सिक्कों के रूप में नहीं। धातुओं के प्रयोग से (सिवाय ताम्र के) वे सर्वथा अपरिचित थे इत्यादि। इस सिद्धान्त को मानने वालों का अभिप्राय

स्पष्ट शब्दों में प्रकट करने के लिये हम यहां पर Issac Taylor M. A. Lit. D. Hon. LL. D. नामक एक अंग्रेज़ विद्वान् कृत The Origin of the Aryans नामक पुस्तक से निम्न-लिखित उद्धरण देना आवश्यक समझते हैं जिसका भावार्थ लगभग ऊपर दिया जा चुका है। पृ० १३२ में वे महाशय लिखते हैं।

"The most recent results of Philological research may be briefly thus summarised. It is believed that the speakers of the primitive Aryan tongue were nomad herdsmen who had domesticated the dog, who wandered the plains of Europe in waggons drawn by oxen, who were ignorant of any metal with the possible exception of native copper. In the summer they lived in huts, built of branches of trees and thatched with reeds; in winter they dwelt in circular pits dug in the earth and roofed over with poles. They were clad in skins sewn together with bone needless; they were able to count upto a hundred. If they practised agri-culture which is very doubtful, it must have been of a very primitive Kind. The only social insti-stitution was marriage; but they were polygami-sts and practised human sacrifice. Whether they ate the bodies slain in war. is doubted. Property consisted in cattle, not in land."

उपर्युक्त उद्धरण बड़ा महत्व पूर्ण है क्योंकि समाज-विकासवाद को

मानने वाले विद्वानों के अभिप्राय का इसे एक तरह से निष्कर्ष कहा जा सकता है। इस सम्पूर्ण उद्धरण का फिर से अर्थ देना अनावश्यक है, यतः उसका भाव पूर्व के लेख में दे दिया है। जितने अंश का भाव वहां नहीं आया वह यह है कि प्रारम्भिक आर्य भाषा भाषी सब लोग कुत्ते पालते थे, वे झुण्ड बना कर रहते थे, बैल गाड़ियों में वे यूरप के मैदानों में विचरते थे। यदि वे खेती करते थे जिसमें कि बड़ा सन्देह है तो वह बहुत ही मामूली और प्रारम्भिक किस्म की होगी। केवल एक ही सामाजिक पद्धति उनके अन्दर प्रचलित थी और वह विवाह की थी, पर वे लोग बहुपत्नीक होते थे। वे यज्ञों में मनुष्यों की आहुतियां भी डाला करते थे। युद्धों में मरे हुए पुरुषों के शरीरों को भी वे खा जाया करते थे वा नहीं इस विषय में कुछ सन्देह है इत्यादि।

एक ओर तो सामाजिक विकासवाद के पोषक पाश्चात्य विद्वान् हमारे सामने पूर्वज आर्यों की सभ्यता का ऐसा काला जङ्गलियों का सा चित्र खैंचते हैं और दूसरी ओर हम अपने स्वतन्त्र अनुशीलन से उन्हें धार्मिक, सामाजिक, ऐहलौकिक, दार्शनिक सभी विषयों में उन्नति के शिखर तक पहुंचा हुआ पाते हैं। क्या हम अपने सारे अनुशीलन को पक्षपात पूर्ण और पाश्चात्यों के ही लेख को प्रामाणिक मान लें? पूर्व इसके कि हम अपने शब्दों में पश्चात्य अनेक विद्वानों द्वारा अभिमत इस सामाजिक विकासवाद के सिद्धान्त की संक्षेप से आलोचना करें, हम यह साफ़ कह देना चाहते हैं कि साधारण ही नहीं कई उच्चकोटि के धुरीण पाश्चात्य विद्वान् भी इस सामाजिक विकासवाद की धार्मिक सामाजिक और नैतिक विषयों में सत्यता को स्वीकार नहीं करते। उदाहरणार्थ प्रसिद्ध विद्वान् मैक्समूलर ने अपने 'Origin of Religion' नामक ग्रन्थ में उन लोगों के मत की समालोचना करते हुए जो जड़ पूजा (Fetishism) को धर्म का प्रारम्भिक स्वरूप मानते हैं पृ० १३१ में कहा है।

"My most serious objection to this theory is that those who believe in fetishism as a primitive and universal form of religion, have often depended on evidence which no scholar, no historian would feel justified to accept. We are justified therefore I think in surrendering the theory that fetishism either has been or must have been the beginning of all religion."

अर्थात् अचेतन पत्थर, वृक्ष, मणि इत्यादि की पूजा प्रत्येक धर्म का प्रारम्भिक रूप रही है अथवा रहनी चाहिये इस कल्पना के बारे में मेरा सबसे बड़ा आक्षेप यह है कि इसको मानने वालों का आधार ऐसी निर्बल साक्षि पर है जिसको कोई भी विद्वान् और ऐतिहासिक मान नहीं सकता। इस लिये मैं समझता हूं कि इस कल्पना का परित्याग कर देना ही हमारे लिये न्याय सङ्गत है। उसी पुस्तक के पृ० ६१ में प्रो० मैक्समूलर ने बताया है कि संसार के इतिहास में धर्म में अवनति वा बिगाड़ अनेक बार हुआ करता है यह बार २ देखने में आता है। यहां तक कि बहुत से धर्मों के इतिहास को उनकी प्रारम्भिक पवित्रता का क्रमिक बिगाड़ ही कहा जा सकता है। Is fetishism a primitive form of Religion इत्यादि नियन्धों में भी प्रो० मैक्समूलर ने सामाजिक विकासवाद का कई अंशों में पूर्ण खण्डन किया है।

(२) डा० रसेल वैलेस जिनको प्रसिद्ध विद्वान् चार्ल्स डार्विन के साथ ही भौतिक विकासवाद (Evolution Theory) के आविष्कार का श्रेय दिया जा सकता है उनकी सम्मति काउल्लेख कर देना भी इस प्रक-

Origin and Growth of Religion by Prof. maxmullar P. 131.

रण में अनुचित न होगा। इसमें सन्देह नहीं हो सकता कि वे सामाजिक विकासवाद के समर्थक नहीं। अपनी प्रसिद्ध पुस्तक "Social Environment and moral Progress" के पृ० ११ में लिखते हैं।

"In the earliest records which have come down to us from the past we find ample indications that general ethical conceptions, the accepted standard of morality and the conduct resulting from these were in no degree inferior to those which prevail today, though in some respects they differed from ours. The *wonderful* collections of hymns known as the vedas is a vast system of religious teachings as pure and lofty as those of finest portion of the Hebren Scriptures."

अर्थात् पुराने समय के जो लेख हमें इस समय मिलते हैं उनमें भी हमें इस बात के पर्याप्त निर्देश प्राप्त होते हैं कि उस समय के सदाचारादि विषयक विचार और व्यवहार हमारे से किसी रूप में भी कम दर्जे के न थे, यद्यपि कई अंशों में वे भिन्न ज़रूर थे। वेद के नाम से प्रसिद्ध आश्चर्य जनक संहिता के अन्दर बाइबल के अच्छे से अच्छे भाग के तुल्य पवित्र और ऊंची धार्मिक शिक्षाओं की एक पद्धति पाई जाती है। इस बात के समर्थन में डा० वैलेस ने अपने ग्रन्थ में वेद के कुछ सूक्तों का अनुवाद भी दिया है जैसे ऋ० १० । १२१ अथर्व ४ ॥

(३) 'Teaching of the Vedas' नामक प्रसिद्ध अंग्रेज़ी

पुस्तक के विद्वान् लेखक Rev. Philips की भी सामाजिक विकासवाद के साथ सहमति नहीं है। अपनी पुस्तक के उपसंहार में वे कहते हैं।

'The conclusion therefore is inevitable that the development of religious thought in India has been Uniformly downward and not onward.'

अर्थात् यह परिणाम अनिवार्य है कि भारत में धार्मिक विचार का विकास उन्नति की ओर नहीं बल्कि अवनति की ओर ही रहा है।

इसी तरह The Bible in India आदि के लेखक जैकोलियट प्रभृति अनेक पाश्चात्य विद्वान् भी इस सामाजिक विकासवाद के पक्षपाती नहीं। पर विस्तार भय से उन सबके ग्रन्थों से उद्धरण देने की यहां आवश्यकता नहीं। अब हम पाश्चात्य विद्वानों के लेखों से उद्धरण न देते हुए संक्षेप से पूर्वोक्त सामाजिक विकासवाद की समालोचना करेंगे। सब से पूर्व हम यह देखेंगे कि म० टेलर ने आर्यों की सभ्यता का जो शोचनीय चित्र खैंचा है उसमें कहां तक सत्यता है और कहां तक वह लेखक की मन घड़न्त कल्पना है। क्रमशः हम टेलर महोदय की मुख्य २ स्थापनाओं को लेंगे।

(क) पहली स्थापना यह है कि शायद देशी ताम्र को छोड़ कर प्राचीन आर्यों को और किसी धातु का ज्ञान न था।

इस स्थापना की असत्यता के विषय में इतना ही कथन पर्याप्त है कि वेद में सप्त धातुओं का स्पष्ट वर्णन आया है। ऋग्वेद में ही जो मैक्समूलरादि सभी धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों के लेखानुसार माननीय पुस्तकालयों में सबसे प्राचीन पुस्तक है (Oldest book in the Library of mankind) हिरण्यमणि, हिरण्यपाणि, हिरण्यहस्त, हिरण्यवक्षा, हिरण्यदन्त, हिरण्यस्रक्, हिरण्यशृङ्ग इत्यादि शब्दों का सैंकड़ों स्थानों पर प्रयोग हुआ है।

हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहञ्च
मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम् ॥
यजु० अ० १८ म० १३ ॥

इस मन्त्र में स्पष्ट ही सोने, चांदी, लोहे, सीसे, लाख, इत्यादि का वर्णन आया है। इसी तरह रजत पात्र का वर्णन भी वेद में अनेक स्थानों पर आया है। अंग्रेज़ी का लोह वाचक Iron शब्द 'अयस्' का ही रूपान्तर प्रतीत होता है।

(२) टेलर महोदय की दूसरी स्थापना यह है कि प्राचीन आर्यों को अच्छे मकान बना कर उनमें रहना न आता था। वे पत्तों से ढकी हुई झोंपड़ियों में ही रहना जानते थे।

इस स्थापना की असत्यता के विषय में यह कह देना काफ़ी है कि वेदों में बड़े २ महलों के वाचक प्रसाद, हर्म्य, अट्ट, सौध इत्यादि शब्दों का हज़ारों जगह प्रयोग हुआ है। इतना ही नहीं शाला के प्रकरण में Drawing Room के वाचक प्राचीनवंश, स्त्रियों के रहने के लिये पत्नी शाल इत्यादि शब्दों का प्रयोग वेदों में पाया जाता है। इससे भी अधिक आश्चर्य जनक बात यह है कि ऋग्वेद में ही म० २। ४१। ५ में सहस्र खम्भों वाले सभा भवन का स्पष्ट वर्णन आया है यथा—

राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे।
सहस्रस्थूण आसाते ॥ ऋ० २। ४१। ५ ॥

अर्थात् राजा और उसके प्रधानामात्य पक्के सहस्र स्तम्भों वाले उत्तम मकान में बैठते हैं। क्या इन वर्णनों को देखते हुए भी यह कहने का कोई साहस कर सकता है कि प्राचीन आर्यों को केवल झोपड़ियों में रहना ही आता था? पक्षपातान्ध होकर तो कुछ भी लिखा जा सकता है।

(३) टेलर महोदय की तीसरी स्थापना यह है कि प्राचीन आर्य लोग हड्डियों की सुइयों से सीये हुए चर्म से शरीर को ढका करते थे।

यह स्थापना भी सर्वथा अशुद्ध है। वेद में 'सीव्यत्वपः सूच्याऽच्छिद्यमानया' इत्यादि मन्त्रों में स्पष्ट सूची का वर्णन आया है। यह सुई हड्डी की बनी हुई होती थी ऐसी कल्पना बिल्कुल निराधार है। लोहे के पात्र, खड्ग (तलवार) वज्र, छुरे इत्यादि का जो सैकड़ों स्थानों पर वेद में वर्णन पाया जाता है उससे तो स्पष्ट प्रमाणित होता है कि लोह के कार्य में वैदिक काल में ही पर्याप्त उन्नति हो चुकी थी। वेद में उष्णीष (पगड़ी), द्रापि (ओवरकोट), सामूल (ऊनी वस्त्र), नीवि, परिधान (धोती), पाण्डु (लोह), तार्प्य (रेशमी वस्त्र), इत्यादि वर्णन से साफ़ मालूम होता है कि वैदिक काल में ही लोग अच्छे वस्त्रों के प्रयोग से भली भाँति परिचित थे। यह दूसरी बात है कि ब्रह्मचारियों को विशेष प्रकार की सादगी और तपस्या का जीवन व्यतीत कराने के लिये प्रायः चर्म ही धारण कराया जाता था। पर स्नातक होते ही प्रत्येक विद्यार्थी को उत्तम वस्त्र धारण करने की आज्ञा होती थी जैसा कि—

युवा सुवासाः परिवीत आगात् स उ श्रेयान् भवति जायमानः।
तं धीरासः कवय उन्नयन्ति स्वाध्यो मनसा देवयन्तः ॥

इत्यादि, ऋग्वेद और 'उष्णीषिणे नमः' यजुर्वेद के मन्त्रों से पता लगता है।

'ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति'

इत्यादि ऋग्वेद के मन्त्रों में स्पष्ट ही ऊन के सूत से वस्त्र बुनने का वर्णन आया है।

(४) टेलर महोदय की अगली स्थापना यह है कि प्राचीन आर्यों में सिवाय विवाह के और कोई सामाजिक संस्था न थी और उसमें भी वे बहुविवाह वादी थे।

वैदिक साहित्य से परिचित प्रत्येक व्यक्ति इस बात को सहज में

ही जान सकता है कि टेलर महोदय की यह स्थापना बिल्कुल अशुद्ध है। हम अभी संक्षेप से दिखाने का यत्न करेंगे कि वैदिक काल में ही आर्य लोग सभा, समिति, राष्ट्र निर्माणादि के भावों से पूर्णतया परिचित थे।

ज़ाया पत्ये मधुमतीं वाचं वदतु शन्तिवाम्।
इहैव स्तं मा वियौष्टं विश्वमायुर्व्यश्नुतम्।
क्रीडन्तौ पुत्रैर्नप्तृभिर्मोदमानौ स्वे गृहे॥
ऋ० १० । ८५ । ४२॥

समञ्जन्तु विश्वे देवाः समापो, हृदयानि नौ।
सं मातरिश्वा सं धाता समुदेष्ट्री दधातु नौ॥
ऋ० १० । ८५ । ४७॥

इहेमाविन्द्र सं नुद चक्रवाकेव दम्पती।
प्रजयैनौ स्वस्तकौ विश्वमायुर्व्यश्नुतम्॥
अन्तः कृणुष्व मां हृदि मन इन्नौ सहासति।
यथेदसस्त्वं केवलो नान्यासां कीर्तयश्चन॥
अथर्व० ॥

इत्यादि वेद मन्त्रों से यह बात बिल्कुल स्पष्ट प्रमाणित होती है कि वैदिक काल में पुरुष एक पत्नी व्रत और स्त्रियां पातिव्रत का पालन किया करती थीं। विवाह प्रकरण में तथा अन्यत्र दोनों के लिये एक वचन का प्रयोग इसी स्थापना का समर्थन करने वाला है। विशेष अवस्थाओं में जब किसी ख़ास कारण से १०,१५ वर्ष तक सन्तान नहीं उत्पन्न हो तो राजाओं को पूर्व पत्नी की अनुमति से दूसरा विवाह करने की आज्ञा होती थी पर इसे अपवाद के तौर पर ही समझना चाहिये न कि नियम। ऊपर जो मन्त्र उद्धृत किये गये हैं उनमें पति पत्नी को चकवा चकवी से उपमा देते हुए उन्हें सुखपूर्वक जीवन व्यतीत करने की आज्ञा दी गई है। 'मा वियौष्टम्' शब्द तलाक़ वा परित्याग का स्पष्ट निषेध करने वाले हैं। चकवा चकवी का प्रेम और पति पत्नी व्रत अत्यन्त

सुप्रसिद्ध है। इन मन्त्रों में पति पत्नी को शरीर पृथक् २ होते हुए भी अपना मन एक कर देने का आदेश किया गया है जो अत्यन्त महत्व पूर्ण है। अन्तिम उद्धरण में पत्नी पति से कहती है कि तुम अन्य किसी स्त्री की चर्चा तक न करो। ऐसी अवस्था में प्राचीन आर्य लोगों में बहु विवाह की प्रथा साधारणतया प्रचलित थी इस स्थापना को कैसे सत्य माना जा सकता है?

(५) टेलर महोदय की एक अत्यन्त भयङ्कर स्थापना यह है कि 'प्राचीन आर्य लोग नर बलि चढ़ाया करते थे और शायद युद्ध में मरे हुए आदमियों के मांस को भी खा जाते थे।'

यह कहने की आवश्यकता नहीं कि इस भयङ्कर स्थापना का आधार 'नरमेध' की अशुद्ध कल्पना पर है। नरमेध अथवा पुरुष मेध का वर्णन प्राचीन वैदिक साहित्य में पाया जाता है इसमें कोई सन्देह नहीं, पर उसका अर्थ पुरुषों की बलि चढ़ाना है इसके लिये कोई प्रमाण नहीं। मेध और यज्ञ शब्द पर्याय वाची हैं। पुरुष, नर और नृ ये तीनों शब्द पर्यायवाचक हैं अतः मनु महाराज ने 'नृयज्ञ की व्याख्या करते हुए कहा है।

'नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।'

इसी को पुरुष वा नरमेध शब्द की भी असली व्याख्या समझा जा सकता है। मेध धातु के अर्थों में से एक अर्थ हिंसा है, इसमें सन्देह नहीं पर वही एक अर्थ नहीं है। मेध का संगमन अर्थात् मेल कराना, एकता उत्पन्न करना यह अर्थ धातुपाठ में ही स्पष्ट दिया है, इसलिये उसकी उपेक्षा नहीं कर सकते। संगमन अर्थ के ग्रहण करने पर नरमेध अथवा पुरुषमेध का अर्थ पुरुषों को एकता के सूत्र में बांधना अथवा उन्हें मिलाना ऐसा बिना किसी खैंचातानी के होता है। यह बात भी ध्यान में रखने योग्य है कि चारों वेदों में नरमेध अथवा पुरुषमेध शब्द का कहीं प्रयोग नहीं पाया जाता।

अश्वं मा हिंसी। गां मा हिंसीरदितिं विराजम्। अविं मा हिंसीः। इमां मा हिंसीर्द्विपादं पशुम्। मा हिंसीः पुरुषम्॥

इत्यादि वेद मन्त्रों से अहिंसा का भाव बिल्कुल स्पष्ट रूप से पाया जाता है।

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

इत्यादि में सब प्राणियों को वेद, मित्र दृष्टि से देखने की आज्ञा देता है। इतना ही नहीं, ऋग्वेद में ही 'आरे गो-हा नृ-हा वधो वो अस्तु।' ऋ० ७। ५६। १६ तथा 'आरे ते गोघ्न मु पूरुषघ्नम्।'

इत्यादि के द्वारा गौ और पुरुष की हिंसा करने वाले मनुष्य से सदा दूर रहने का आदेश किया गया है। इतनी विवेचना से यह बात साफ़ है कि कम से कम वेद के अन्दर मनुष्य बलि ही नहीं, बल्कि किसी भी प्राणी की हत्या करने का स्पष्ट निषेध है। वेद से प्राचीन किसी ग्रन्थ को मानने के लिये कोई भी स्पष्ट प्रमाण आजतक किसी पाश्चात्य विद्वान् की तरफ़ से प्रस्तुत नहीं किया गया यद्यपि उनमें से कइयों ने वेदों को बहुत ही अर्वाचीन सिद्ध करने की चेष्टा की है। इस विषय में ग्रन्थ विस्तार के भय से अधिक लिखना अनावश्यक है। युद्ध में मरे हुए मनुष्यों को भी शायद प्राचीन आर्य खा जाया करते थे ऐसा लेख केवल म० टेलर आदि पाश्चात्य लोगों के आर्यों के विरुद्ध पक्षपात को छोड़कर अन्य कुछ सूचित नहीं करता। इस तरह के लेख का गम्भीरता पूर्वक खण्डन करना बिल्कुल व्यर्थ है।

(६) टेलर महोदय की छठी स्थापना यह है कि प्राचीन आर्य लोगों के यहां सम्पत्ति पशुओं के ही रूप में मानी जाती थी, भूमि, धन इत्यादि के रूप में नहीं।

इस स्थापना की असत्यता इस बात से साफ़ ज़ाहिर होती है कि वेद में ही धन लेकर उसके द्वारा व्यापारादि करने का स्पष्ट वर्णन आया है।

येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तन्मे भूयो भवतु मा कनीयो अग्ने सातघ्नो देवान् हविषा निषेध॥
येन धनेन प्रपणं चरामि धनेन देवा धनमिच्छमानः।
तस्मिन् म इन्द्रो रुचिमादधातु॥ (अ० ३। १५। ५-६)
यथा क्रीत्वा धनमाहरशाणि।

इत्यादि वेद मन्त्रों में एक वैश्य के मुख से कहलाया गया है कि मैं जिस धन को लेकर धन कमाने की इच्छा से व्यापार प्रारम्भ करता हूं वह मेरा धन वृद्धि को ही प्राप्त होता जाए, न्यून न हो, मुझे सब तरफ़ से व्यापार के कार्य में प्रोत्साहना मिलती रहे इत्यादि। ये तथा इस प्रकार के बहुत से मन्त्र चारों वेदों में पाये जाते हैं, इस बात को स्पष्ट सिद्ध करते हैं कि प्राचीन आर्य केवल पशुओं के रूप में ही सम्पत्ति को नहीं समझते थे जैसे कि टेलर इत्यादि विद्वानों ने दिखाने का यत्न किया है। हां, पशु भी एक प्रकार की सम्पति हैं इससे कोई इन्कार नहीं कर सकता।

इतना लेख विरोधियों के मत की आलोचना में लिखने के पश्चात् अब हम यह कहना चाहते हैं कि (१) ईश्वर विषयक उच्च कल्पना (२) समाज की उत्तम व्यवस्था (३) सामाजिक राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक भाव की प्रधानता (४) स्त्रियों की उत्तम स्थिति (५) प्रजातन्त्र शासन अथवा प्रतिनिधियों द्वारा राजा का चुनाव और (६) वैज्ञानिक या प्राकृतिक उन्नति इन छः बातों बातों से किसी भी समय की सभ्यता का ठीक २ पता लगाया जा सकता है। इस दृष्टि से जब हम प्राचीन आर्य सभ्यता की वर्तमान समय की केवल भोगमय सभ्यता के साथ तुलना करते हैं तो विकासवाद के विरुद्ध परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते।

सबसे पहले हम प्राचीन आर्यों की परमेश्वर विषयक कल्पना को लेते

हैं। हम (आर्य) वेदों को ईश्वरीय ज्ञान मानते हैं इसलिये हमारे मन्तव्य के अनुसार वेद किसी विशेष समय और देश की सभ्यता वा विश्वासों के सूचक नहीं हो सकते, बल्कि उनमें तीनों कालों में सत्य अटल नियमों और सचाइयों का प्रकाश किया गया है, पर विकास वादी विद्वान् जन के मत हम इस समय आलोचना कर रहे हैं वेदों को अन्य प्रायः सब ग्रन्थों की अपेक्षा प्राचीन और प्रारम्भिक असभ्य अथवा अधिक से अधिक अर्ध सभ्य (Primitive and barbarous) पुरुषों की सभ्यता तथा विश्वासों का सूचक मानते हैं इसलिये यदि उनके ही अपने अनुवादों और व्याख्यानों के अनुसार यह सिद्ध किया जा सके कि वेदों के अन्दर शुद्ध एकेश्वर वाद का प्रति पादन है तो विकासवाद के भवन की नींव ही बिल्कुल हिल जाएगी। यूरोपीय विद्वानों ने पक्षपात पूर्वक यह दिखाने का प्रयत्न किया है कि वेद प्राकृति पूजा अथवाब हुदेवता वाद का समर्थक है। उन्होंने वेदों की व्याख्या करने में बड़ीभारी अशुद्धि यह की है कि इन्द्र, मित्र, वरुण सूर्यादि को पृथक् २ देवता और पूजनीय मान लिया है। वास्तव में मुख्यतः ये नाम एक ही परमेश्वर के भिन्न २ गुणों के द्योतक हैं। ऋग्वेद (१ । १६४ । ४६ ॥) के सुप्रसिद्ध मन्त्र है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान् ।
एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः ॥

इस मन्त्र का म० ग्रिफ़िथ भी "He (God) is one, sages call Him by many names *i.e.* Agni, Yama, Matarishwan" ऐसा ही भाषान्तर करते हैं। यह स्थापना स्पष्ट तौर पर पुष्ट होती है। यजु० ३२ । १ में

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद् वायुस्तदुचन्द्रमाः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः ॥

अथर्ववेद के (१३ । ४ । ४,५)

सोऽर्यमा स वरुणः स रुद्रः स महादेवः ।
सोऽग्निः स उ सूर्यः स उ एव महायमः ॥

और

कीर्तिश्च यशश्चाम्भश्चनभश्च ब्राह्मणवर्चसम् ।
चान्नं चान्नाद्यं च । य एतं देवमेकवृतं वेद ॥
न द्वितीयो न तृतीयश्चतुर्थो नाप्युच्यते ।
न पञ्चमो न षष्ठः सप्तमो नाप्युच्यते ॥
नाष्टमो न नवमो दशमो नाप्युच्यते ।
तमिदं निगतं सहः स एष एक एकवृदेक एव ॥
सर्वे अस्मिन् देवा एकवृतो भवन्ति ॥

अथर्व० १३ । ४ । १४–२१ ॥

इत्यादि सैकड़ों मन्त्रों से जिनका ग्रिफ़िथ इत्यादि पाश्चात्य अनुवादकों ने भी

"Renown and glory, force and happiness, the Brahman's splendour, food and nourishment to him who knoweth this *God as one without a second*. Neither second nor third, nor yet fourth is he called. He is called neither fifth nor sixth nor yet seventh is he called..................................

He is the sole, the simple one, the *one alone*. In him all gods become simple and one."

इत्यादि रूप से सीधा एकेश्वरवाद समर्थक ही भाषान्तर दिया है । यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि वेदों में आये हुए अग्नि, आदित्य, वायु, प्रजापति इत्यादि नाम प्रधानतः ईश्वर के ही भिन्न २ गुणों का द्योतन कराने वाले हैं । परमेश्वर एक ही है दो, तीन चार पांच छः परमेश्वर नहीं हैं, वह

परमेश्वर एक ही होता हुआ सर्व व्यापक है इसी लिये उसे वेद 'एकवृत्' नाम से कहता है।

एकः सन् वृणोति व्याप्नोति सर्वमिति एकवृत्।

उपासना का विधान करता हुआ वेद ही एक ईश्वर को सर्वोपास्य बतलाता है—

य आत्मदा बलदा यस्य विश्व उपासते प्रशिषं यस्य देवाः।
यस्य छायाऽमृतं यस्य मृत्युः कस्मै देवाय हविषा विधेम॥

ऋ० १० । १२१ ॥

य एक इद्धव्यश्चर्षणीनामिन्द्रं तं गीर्भिरभ्यर्च आभिः॥

ऋ० ६ । २२ । १ ॥

प्रजापते न त्वदेतान्यन्यो विश्वा जातानि परि ता बभूव॥

ऋ० १० । १२१ । १० ॥

माचिदन्यद् विशंसत सखायो मा रिषण्यत।
इन्द्रमित्स्तोता वृषणं सचा सुते मुहुरुक्था च शंसत॥

ऋ० ८ । १ । १ ॥

दिव्यो गन्धर्वो भुवनस्य यस्पतिरेक एव नमस्यो विक्ष्वीड्यः।
तं त्वा यौमि ब्रह्मणा दिव्य देव नमस्ते अस्तु दिवि ते सधस्थम्॥

अ० २ । २ । १ ॥

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा एक ही ईश्वर को स्तुत्य अर्थात् स्तवनीय, उपासनीय और सबका नमस्कार करने योग्य बता रहा है 'प्रजापते नत्वदेतानि' इस मन्त्र ने तो स्पष्ट ही कह दिया है कि हे परमेश्वर तेरे अतिरिक्त अन्य कोई भी सर्वव्यापक और स्वामी नहीं है। देखिये म० ग्रिफिथ का भाषान्तर

Thou alone comprehendest all sorts of created beings and none beside thee.

'मा चिदन्यद् विशंसत'० इस मन्त्र में सर्वैश्वर्य सम्पन्न प्रभु की ही स्तुति करने का स्पष्ट विधान है। इस प्रकार के असंख्य मन्त्रों के होते हुए भी यदि पाश्चात्य विद्वान् पक्षपातान्ध होकर विकासवाद की पुष्टि के लिये वेदों को प्रकृतिपूजा या बहुदेवतावाद (Polytheism) का समर्थक बताएं तो उनके पक्षपात पर खेद प्रकट करने के सिवाय और क्या हो सकता है। आश्चर्य तो तब होता है जब कि मैक्समूलर जैसे प्रसिद्ध विद्वान् भी वेदों में एकेश्वर वाद (Monotheism) मानने के लिये न तैयार होते हुए वेद हीन-देवता वाद Heno-theism का समर्थक है ऐसी मन घड़न्त नवीन कल्पना करने लगते हैं। यह सब पक्षपात होते हुए भी आखिर इन पाश्चात्य विद्वानों को अनेक स्थानों पर बाधित होकर वेद में एकेश्वर वाद को स्वीकार करना ही पड़ा है उदाहरणार्थ हिस्ट्री आफ़ एन्शेन्ट संस्कृत लिटरेचर (History of Ancient Sanskrit Literature) नामक पुस्तक के पृ० ५६८ पर प्रो० मैक्समूलर कहते हैं।

"I add only one more hymn (Rig x.121) in which the idea of one God is expressed with such *power* and *decision* that it will make us hesitate before we deny to the Aryan nations an *instinctive monotheism.*"

अर्थात् मैं अन्त में केवल एक और सूक्त की ओर निर्देश कर देना चाहता हूं जिसमें एकेश्वर वाद इतने बल और पूर्ण निश्चय के साथ वर्णित किया गया है कि यदि हम आर्य जातियों को स्वाभाविक एकेश्वरवादी न मानने में हमें अत्यन्त संकोच होगा। इस सूक्त के सम्बन्ध में अपनी वैदिक हिम्स् (Vedic Hymns) नामक पुस्तक में मैक्समूलर फिर भूमिका के रूपमें लिखते हैं।

"This is one of the hymns which have always

been suspected as modern by European interpreters."

अर्थात् यह हिरण्यगर्भ सूक्त उन सूक्तों में से एक है जिन पर यूरोपीय व्याख्याकारों ने सदा ही नवीन होने का सन्देह किया है। प्रजापते न त्वदेतानि० इस मन्त्र पर जिसका अर्थ निर्देश ऊपर किया जा चुका है प्रो० मैक्समूलर अपनी ओर से टिप्पणी चढ़ाते हैं।

"The last verse is to my mind the most *suspicious* of all."

जिसका तात्पर्य यह है कि मेरे ख्याल में यह अन्तिम मन्त्र अत्यन्त सन्देह जनक है। क्यों न हो जब कि, जैसे तैसे करके वेदों को बहु देवता वाद अथवा हीनदेवतावाद का समर्थक सिद्ध करना ही पाश्चात्य विद्वानों का मुख्य ध्येय हो, चाहे उसके विरुद्ध कितने ही स्पष्ट प्रमाण मिलें। इन बातों का निर्देश केवल पाश्चात्य लेखकों की पक्षपातान्ध मानसिक वृत्ति दिखाने के लिये यहां किया गया है अन्य किसी कारण से नहीं। अधिक विस्तार अनावश्यक है।

उच्च सभ्यता का द्योतक दूसरा चिन्ह उत्तम सामाजिक व्यवस्था है। इस निबन्ध के २ य, ३ य और चतुर्थ अध्याय में हमने वेदोक्त वर्ण-व्यवस्था पर विचार करके यह दिखाया है कि इसके द्वारा ही न केवल भारतीय समाज का बल्कि सम्पूर्ण जगत् का कल्याण हो सकता है। वर्तमान समय में सभ्य कहाने वाली पाश्चात्य जातियों की अवस्था भी अत्यन्त शोचनीय है। शान्ति के स्थान में वहां अशान्ति का ही सब जगह राज्य दिखाई देता है जब तक वैदिक वर्णव्यवस्था के भाव को फिर से प्रचलित न किया जाएगा अर्थात् स्वार्थरहित सदाचारी तपस्वी ब्राह्मणों के हाथ में समाज की बागडोर न होगी तब तक समाज की अवस्था कभी उन्नत न होगी। किन्तु वह स्वार्थी वैश्यों के राज्य में व्यवसायवाद के

भार के नीचे दब कर रसातल को पहुंच जाएगी। इसलिये इस विषय में भी विकास, नहीं बल्कि ह्रास के नियम ने ही कार्य किया मालूम देता है।

उच्च सभ्यता का तीसरा चिन्ह सामाजिक राष्ट्रीय अथवा सार्वजनिक भाव की प्रधानता है। वेदों का निष्पक्ष पात दृष्टि से अनुशीलन करने वाले पाश्चात्य विद्वानों ने भी इस बात को स्पष्ट स्वीकार किया है कि उनके अन्दर उच्च सामाजिक भाव पाये जाते हैं। उदाहरणार्थ ऋग्वेद १०। १९१ के मन्त्रों का म० ग्रिफ़िथ इत्यादि यूरोपीय भाषान्तरकारों का ही अर्थ यदि देखा जाए तो उससे बड़े ऊंचे सामाजिक भावों की वैदिक काल में विद्यमानता के प्रबल प्रमाण मिलते हैं यथा

संगच्छध्वं संवदध्वं सं वो मनांसि जानताम्॥
१०। १९१। २॥

"Walk together, speak together, let your minds be all alike."

समानी व आकूतिः समाना हृदयानि वः।
समानमस्तु वो मनो यथा वः सुसहासति॥
ऋ० १०। १९१ ४॥

"May your decisions be unanimous, your minds being of one accord. May the thoughts of all be united so that there may be a happy agreement among you."

इत्यादि से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि वैदिक आर्यों के सामाजिक भाव बड़े उच्च थे। वेदों में बार २ सभा और समिति का वर्णन आया है जो ग्राम पञ्चायत और लोक सभा (Popular Assembly) वा राष्ट्रीय सभा (National Congress) के द्योतक शब्द हैं जैसा कि

Self-government in ancient India Vedic and Post Vedic शीर्षक के निबन्ध में महाशय पावगी तथा अन्य विद्वानों ने सिद्ध किया है। स्वयं पाश्चात्य विद्वानों तक ने इस बात से इन्कार नहीं किया।

सभा च मा समितिश्चावतां विद्यते सभे नाम।
अथर्व का० ७। १२॥

इत्यादि मन्त्रों का म० ग्रिफिथ इत्यादि यूरोपीय अनुवादकों ने इस तरह का भाषान्तर दिया है।

"We know thy name, O conference; thy name is interchange of talk. Let all the company who join the conference agree with me."

यह वैदिक काल में प्रचलित उच्च सामाजिक भावों की ही स्पष्ट सूचना देने वाला है। म० मूर ने तो इस सूक्त की भूमिका में ही लिख दिया है।

'The hymn breathes a social spirit; and a disposition to profit by the improving influence of the company of cultured men."

अर्थात् इस सारे सूक्त के अन्दर सामाजिक भाव कूट २ कर भरा हुआ है इत्यादि। इस सामाजिक भाव के अतिरिक्त देश भक्ति के पवित्र और उच्च भावों से वेदों के सूक्त के सूक्त भरे पड़े हैं।

उप सर्प मातरं भूमिमेताम्। ऋ० १०। १८। १०॥

यह आदेश है जिसका स्पष्ट अर्थ यह है कि इस मातृभूमि की सेवा करो।

उपहूता पृथिवी मातोपमां पृथिवी माता ह्वयताम्।
यजु० २। १०॥

ये शब्द आये हैं जिनमें मातृभूमि की सेवा का भाव स्पष्ट है।

नमो मात्रे पृथिव्यै नमो मात्रे पृथिव्यै।

यजु० अ० ९

ये शब्द अपने देश को माता के समान समझना चाहिये इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं।

आ ब्रह्मन् ब्राह्मणो ब्रह्मवर्चसी जायतामाराष्ट्रे राजन्यः
शूर इषव्योऽति व्याधी महारथो जायताम्।

यजु० अ० २२ म० २२॥

इत्यादि शब्द उच्च राष्ट्रीय हित के भाव की सूचना देने वाले हैं। अथर्ववेद का १२ वां काण्ड तो सम्पूर्ण इन राष्ट्रीय उच्च भावों का विशेष रीति से द्योतक है। उसके अन्दर आये हुए

माता भूमिः पुत्रो अहं पृथिव्याः।
ये ग्रामा यदरण्यं याः सभा अधिभूम्याम्।
ये संग्रामाः समितयस्तेषु चारु वदेम ते॥
दीर्घं न आयुः प्रतिबुध्यमाना वयं तुभ्यं बलिहृतः स्याम।

इत्यादि मन्त्र अत्यन्त उत्कृष्ट राष्ट्रीयता के भावों को लिये हुए हैं। इन मन्त्रों के अन्दर पृथिवी को माता और अपने को उसका पुत्र कहा है। ग्राम, जंगल, सभा, संग्राम, समिति (कौन्सिल) सब जगह मातृभूमि के हित का ही विचार करना चाहिये यह भाव यहां प्रकट किया है और साथ ही मातृभूमि को सम्बोधन करते हुए कहा है कि हम दीर्घ आयु और ज्ञान से सम्पन्न होकर तेरे लिये अपने प्राणों तक की आहुति देने को सदा उद्यत रहें। क्या इतने शुद्ध देश भक्ति के द्योतक भावों को प्रकाशित करने वाले ग्रन्थों को भी कोई निष्पक्षपात विद्वान् प्रारम्भिक जंगली सभ्यता का निदर्शक मान सकता है? वर्तमान समय के राष्ट्रीयता वाद

(Nationalism) से वैदिक शिक्षाओं का जो भेद है उसका संक्षेप से आगे निर्देश किया जाएगा।

किसी भी देश और काल की उच्च सभ्यता की द्योतक चौथी बात स्त्रियों की स्थिति है। इस निबन्ध के ७ वें अध्याय में हमने शास्त्रीय ऐतिहासिक और सामाजिक दृष्टि से इस अत्यावश्यक विषय पर पर्याप्त विस्तार से विचार करके दिखाया है कि स्त्रियों की स्थिति के सम्बन्ध में वेद के अन्दर पाये जाने वाले विचार बहुत ही ऊंचे हैं। उन्हें किसी भी दशा में पुरुषों से कम नहीं माना गया है पर पुरुषों का आधा अङ्ग स्वीकार किया गया है। वेदाध्ययन यज्ञ इत्यादि धार्मिक ही नहीं बल्कि न्याय, राज्य, शासनादि, तक में स्त्रियों का पुरुषों के समान अधिकार माना गया है।

मूर्धासि राड् ध्रुवासि धरुणा धर्त्र्यसि धरणी।
आयुषे त्वा वर्चसे त्वा कृष्यै त्वा क्षेमाय त्वा॥
यन्त्री राड् यन्त्र्यसि यमनी ध्रुवासि धरित्री।
इषे त्वोर्जे त्वा रय्यै त्वा पोषाय त्वा॥

यजु० अ० १४। म० २०। २१॥

इत्यादि मन्त्र स्पष्ट तौर पर एक स्त्री के ही राज्याभिषेक के समय उच्चारण करने योग्य प्रतीत होते हैं। उस रानी को इन मन्त्रों में मूर्धा अर्थात् सारे राज्य का शिरः स्थानीय, ध्रुवा, स्थिर, धरुणा, धर्त्री और धारणी अर्थात् सब प्रकार से राष्ट्र और प्रजा का धारण करने वाली और यन्त्री यमनी अर्थात् सब तरह से नियन्त्रण में प्रजा को रखने वाली बता कर अन्न, बल, ऐश्वर्य, पुष्टि; आयु, वर्चः, कृषि और कल्याण के लिये उसका राज्याभिषेक बताया गया है। वाल्मीकीय रामायण के अन्दर ही उल्लेख है कि श्रीराम के बन जाने की अवस्था में सीता देवी को राज्य सिंहासन पर बैठाया जाए ऐसा भी एक प्रस्ताव उपस्थित किया गया था। महाभारत काल में

भी स्त्रियों द्वारा राज्य किये जाने के अनेक उदाहरण पता लगते हैं जिनका यहां उल्लेख करने की ज़रूरत नहीं। इतना तो स्पष्ट कह देने की आवश्यकता है कि स्त्रियों की अत्यन्त उन्नत स्थिति स्वीकार करते हुए भी आर्य सभ्यता में उन्हें पुरुषों कीअनुव्रता होने का आदेश है न कि आजकल के फ़ेमिनिज़्म (Feminism) इत्यादि आन्दोलनों के प्रवर्तकों के अनुसार पुरुषों के प्रतिस्पर्धिनी बनकर अपनी स्वाभाविक कोमल करुणाप्रधान वृत्ति को खो बैठना। इस दृष्टि से विचार करने पर भी हमें स्पष्ट मालूम होता है कि समाज में विकास के स्थान में ह्रास ही अधिक पाया गया है।

उच्च सभ्यता का द्योतक पांचवां चिन्ह प्रजातन्त्र शासन पद्धति अथवा प्रजा के प्रतिनिधियों द्वारा राजा का चुनाव है। वेद का निष्पक्षपात दृष्टि से अनुशीलन करने वाला कोई भी व्यक्ति इस बात से इन्कार नहीं कर सकता कि ऋग्वेद में भी जो निःसन्देह माननीय पुस्तकालय में सबसे प्राचीन ग्रन्थ है इस प्रजातन्त्र शासन पद्धति अथवा राजनिर्वाचन के स्पष्ट प्रमाण पाये जाते हैं।

आ त्वा हार्षमन्तरेधि ध्रुवस्तिष्ठाविचाचलिः।
विशस्त्वा सर्वा वाञ्छन्तु मा त्वद्राष्ट्रमधिभ्रशत्॥
ऋ० १०। १७३। १॥

यह मन्त्र प्रजा के प्रतिनिधि मुख्य पुरोहित के मुख से कहलाया गया है जिसका म० ग्रिफ़िथ का किया हुआ भाषान्तर यह है।

"Be with us. I have chosen thee. Stand firm and steadfast. Let all the people wish for thee. Let not thy kingdom fall away."

इस मन्त्र में आये हुए शब्द अत्यन्त स्पष्ट हैं। उनके अर्थों में किसी तरह की भी खैंचातानी नहीं है। तीसरे और चौथे चरणों के सम्बन्ध

पर जब हम ध्यान देते हैं तो गूढार्थ समझ में आता है। तीसरे चरण में राजा को सम्बोधन करते हुए कहा है कि तुझे सारी प्रजाएं चाहें। किस लिये, ताकि तेरा राज्य गिर न जाए तू राज्य सिंहासन से च्युत न हो जाए। दोनों चरणों का सम्बन्ध ध्यान में रखने पर यह अर्थ स्पष्ट निकलता है कि यदि किसी राजा को प्रजाएं नहीं चाहतीं तो उसे राज्य सिंहासन से वे उतारने का सामर्थ्य रखती हैं इसीलिये उसे पहले से यहां चेतावनी दे दी गई है। इसी सूक्त के दूसरे मन्त्र में भी

इहैवैधि माप च्योष्ठाः पर्वत इवाविचाचलिः।
इन्द्र इहैव ध्रुवस्तिष्ठेह राष्ट्रमु धारय॥

यह कह कर फिर राजा को स्थिर होकर दृढ़ता पूर्वक राज्यकार्य करने और न गिरने की जो चेतावनी दी गई है वह साफ़ तौर पर इस बात की सूचना देती है कि असावधानता की दशा में प्रजा की बहुसम्मति के विरुद्ध कार्य करने पर राजा को राजगद्दी से उतार कर फैंका भी जा सकता है। शुक्रनीति के

गुणनीतिबलद्वेषी, कुलभूतोऽप्यधार्मिकः।
यदि राजा भवेत्तन्तु त्यजेद्राष्ट्रविनाशकम्॥

इत्यादि श्लोकों में इसी प्रजा के अधिकार को सूचित किया गया है।

आ त्वागन् राष्ट्रं सहवर्चसोदिहि प्राङ् विशांपतिरेक राट् त्वं विराज। सर्वास्त्वा राजन् प्रदिशो ह्वयन्तूपसद्यो नमस्यो भवेह॥ त्वां विशो वृणतां राज्याय त्वामिमाः प्रदिशः पञ्च देवीः॥

अथर्ववेद ३।४॥

इत्यादि मन्त्र भी सर्वथा असन्दिग्ध शब्दों में प्रजा के द्वारा राजा के चुनाव की ही सूचना देने वाले हैं।

इमं देवा असपत्नं सुवध्वं महते क्षत्राय महते ज्यैष्ठ्याय महते जानराज्यायेन्द्रस्येन्द्रियाय ॥

यजु० अ० ९ म० ४०

विशि राजा प्रतिष्ठितः ।

अ० २० । ९ ॥

इत्यादि शब्द ऐश्वर्यवृद्धि के लिये किसी सर्व गुण सम्पन्न व्यक्ति के प्रजा द्वारा चुनाव की सूचना देकर साफ़ शब्दों में बतलाते हैं कि राजा का आधार प्रजा पर ही है अर्थात् यदि प्रजा चाहे तभी किसी व्यक्ति को राजसिंहासन पर बैठाये रख सकती है । जब उसे कर्तव्य से विमुख हुए देखे तो गद्दी से उतार कर परे फेंक देने का सामर्थ्य भी प्रजा के अन्दर होना चाहिये ।

वैदिक काल में ही नहीं उसके बहुत समय बाद तक भी भारत में प्रजा द्वारा राजा के चुनाव के कई स्पष्ट प्रमाण प्राचीन संस्कृत तथा बौद्ध साहित्य में पाये जाते हैं । वाल्मीकि रामायण में वर्णन है कि जब दश-रथ के मन में युवराज बनाने का विचार उत्पन्न हुआ तो उसने सब दूर २ देश देशान्तरों तक के राजाओं को सभा में आमन्त्रित किया ।

नानानगरवास्तव्यान् पृथग् जानपदानपि ।
समानिनाय मेदिन्यां प्रधानान् पृथिवीपतिः ॥

इस प्रकार सब प्रजा के प्रतिनिधियों को इकट्ठा करके दशरथ ने अपना प्रस्ताव उनके सामने रक्खा और अन्त में कहा—

यदिदं मेऽनुरूपार्थं मया साधु सुमन्त्रितम् ।
भवन्तो मेऽनुमन्यन्तां कथं वा करवाण्यहम् ॥

अर्थात् यदि मेरा यह प्रस्ताव आप सब की इच्छा के अनुकूल हो तो आप इसका अनुमोदन करें नहीं तो मुझे बताएं मैं कैसे करूं ! इस प्रकार के वर्णनों से साफ़ पता लगता है कि रामायण काल में यद्यपि

साधारण नियम के तौर पर पिता के बाद पुत्र को ही गद्दी मिलती थी पर उसके लिये प्रजा की अनुमति लेना अत्यावश्यक समझा जाता था। कभी २ ज्येष्ठ पुत्र को अयोग्य अथवा दुष्ट होने के कारण राज्य के अधिकार से वञ्चित कर दिया जाता था जैसा कि असमञ्जस, यदु इत्यादि के उदाहरणों से पता चलता है। तात्पर्य यह कि उस समय स्वेच्छाचारि-शासन न था, बल्कि प्रजा का राज-शासन में बहुत अधिकार माना जाता था। बौद्धकाल में तो अनेक छोटे २ प्रजा-सत्तात्मक राष्ट्रों के स्पष्ट उदाहरण मिलते हैं जहां आजकल स्विटज़रलैन्ड की तरह सब प्रजा-पुरुष मिल कर राजा वा प्रधान का चुनाव किया करते थे। अत्यन्त प्रसिद्ध महाराज हर्षवर्धन का इसी तरह प्रजा द्वारा ही निर्वाचन किया गया था। मि॰ जेम्स मिल जैसे कट्टर भारतीय सभ्यता के विरोधी को भी अपने इतिहास के ग्रन्थ में मानना पड़ा है कि—

"In examining the spirit of these ancient constitutions and laws, we discover evident traces of a germ of republicanism."

अर्थात्, इन पुरानी पद्धतियों और नियमों की तह में काम करने वाले भाव की जब हम परीक्षा करते हैं तो हमें उनमें प्रजासत्तात्मक शासन के कुछ स्पष्ट चिन्ह दिखाई देते हैं।' भारत में प्रारम्भ से ही ग्रामों की जो अत्यन्त अनुकरणीय शासनपद्धति रही है उसका भी थोड़ा सा निर्देश कर देना यहां अनुचित न होगा। इनके विषय में सर चार्ल्स मेटकाफ़ ने जो इस विषय के प्रामाणिक विद्वान् माने जाते हैं लिखा है कि—

"The village communities are little republics having nearly everything they can want within themselves and almost independent of any

foreign nation...............This union of village communities, each one forming a separate little state in itself, is in a high digree conducive to their (Hindu's) happiness and to the enjoyment of a great portion of freedom and independence."

इस प्रकार यदि प्रजा का राजा के चुनाव और राज्यकार्य में हाथ होना उच्च सभ्यता का द्योतक चिन्ह है जिसमें सन्देह नहीं हो सकता तो यह बात बिना किसी सन्देह के कही जा सकती है कि प्राचीन आर्य-सभ्यता आज कल के सभ्य से सभ्य देशों में भी इस अंश में कम न थी। वास्तव में देखा जाए तो आज कल के पार्लियामेन्टरी शासन में हज़ारों दोष हैं। जैसा कि पहले भी निर्देश किया जा चुका है, क्योंकि बड़ी थैली वालों के हाथ में आज कल सारी ताक़त है, इन्हीं के हाथ में फ़ैसले करने और नियम निर्माण करने का कार्य है इसलिये न्याय का खून प्रायः किया जाता है। स्वार्थ सिद्ध करने के लिये अनेक तरह के प्रजा के लिये वस्तुतः हानिकारक नियम बना दिये जाते हैं। इतना ही नहीं, स्पष्ट वक्ता जार्ज केकेविच लण्डन के शिक्षा विभाग (Board of education, London) के भूत पूर्व मन्त्री जैसे महानुभावों ने तो साफ़ शब्दों में कहा है कि—

"Bribery is part of our Parliamentary system and of our Public life. In some places, there was enough actual bribery to turn the election."

'अर्थात् घूंस खोरी हमारी पार्लियामेन्टरी पद्धति का और हमारे सार्वजनिक जीवन का एक भाग बन गई है। कई स्थानों पर तो केवल घूंस देकर

[1] quoted here from the 'Illusious of New India' by Pramath Nath Bose, Page 222.

ही चुनाव कराये गये।' इस स्थापना के समर्थन में हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि प्रमुख पाश्चात्य पण्डितों के ग्रन्थों से भी प्रमाण प्रस्तुत किये जा सकते हैं पर निबन्ध विस्तार के भय से हम वैसा करना यहां अनावश्यक समझते हैं।

उच्च सभ्यता का एक चिन्ह वैज्ञानिक और प्राकृतिक उन्नति है। आजकल यूरोप और अमेरिका वासी अपनी इस विषयक उन्नति का घमण्ड मारते हैं और समझते हैं कि प्राचीन काल में आर्य लोग विज्ञानादि से सर्वथा अपरिचित थे। वास्तव में निष्पक्षपात दृष्टि से देखा जाए तो यद्यपि पाश्चात्य देशों में इन दिनों विज्ञान के सम्बन्ध में अच्छी उन्नति हुई है तथापि कई अंशों में अभी तक प्राचीन भारतीय आर्यों को ही आविष्कारक और अधिक उन्नत होने का श्रेय मिल सकता है। उदाहरणार्थ वैद्यक विद्या में प्राचीन आर्यों की उन्नति चमत्कारजनक थी। इस बात को प्रायः सब पाश्चात्य लेखकों ने मुक्त कण्ठ से स्वीकार किया है। म० वीवर ने Indian Literature नामक पुस्तक के २७० पृष्ठ पर भारतीय शल्यविद्या के विषय में कहा है।

"In surgery too, the Indians seem to have attained a special *proficiency* and in this department European surgeons might, perhaps, even to this day still learn something from them."

अर्थात्, शल्य विद्या के विषय में भारतीयों ने विशेष प्रवीणता प्राप्त कर रखी थी, यहां तक कि शायद अभी तक यूरोपीयन सर्जन उनसे कई पाठ सीख सकते हैं।

Ancient and Mediveal India Vol. 11 P. में 346. Mrs. Manning ने लिखा है।

The surgical instruments of the Hindus were sufficiently sharp, indeed as to be capable of dividing a hair longitudinally."

अर्थात् हिन्दुओं के शल्यविद्या सम्बन्धी यन्त्र इतने तेज़ थे कि उनके द्वारा बाल को चौड़ाई में भी काटा जा सकता था। History of India नामक पुस्तक के लेखक श्री एल फिन्स्टन Elphinstone ने भी कहा है।

The surgery of the Hindus was as remarkable as their medicine.

इस तरह की साक्षियों के अतिरिक्त जो हज़ारों उद्धृत की जा सकती हैं ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करने पर पता लगता है कि आज कल की पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति बहुत कुछ अरब लोगों से ली गई। अरब लोगों ने बहुत कुछ भारतियों से सीखा था क्योंकि यह मानी हुई बात है कि १० वीं सदी में बग़दाद के ख़लीफ़े की आज्ञा से सुश्रुत चरक इत्यादि संस्कृत के वैद्यक ग्रन्थों का अरबी भाषा में अनुवाद किया गया। सिरोपियन नामक एक अति प्राचीन अरब निवासी हकीम ने भारतीय चरक ऋषि का वैद्यक विषय में प्रामाणिक व्यक्ति के तौर पर उल्लेख किया है और उसकी बहुत प्रशंसा की है। देखो Royle's Ancient Hindu Medicine

वैद्यक के अतिरिक्त गणित ज्योतिष रसायन संगीत विद्या, इत्यादि सभी विज्ञानों और शिल्पों में प्राचीन आर्य लोगों ने अत्यन्त आश्चर्यजनक उन्नति कर रखी थी। उदाहरणार्थ ज्योतिष विद्या के विषय में जो एक अत्युन्नत विज्ञान है पाश्चात्यों ने भी भारतीय प्राचीन आर्यों की प्रवीणता को स्पष्ट शब्दों में स्वीकार किया है। डा० सर विलियम हन्टर ने कहा है

"The astronomy of the Hindus has formed the subject of excessive admiration."

मि० एलफ़िन्स्टन ने लिखा है।

"Proofs of very extra ordinary proficiency in their astronomical writings are found."

(History of India P. 129).

कौण्ट जोर्नजर्ना Count Bjornstjerna नामक सुप्रसिद्ध लेखक ने भी यही परिणाम निकाला है कि हिन्दु ज्योतिषशास्त्र कलि युग के प्रारम्भ में भी बहुत उन्नत था। वे कहते हैं।

Hindu astronomy was very far advanced even at the beginning of the Kaliyuga about 5000 years ago.

इस तरह के पाश्चात्य विद्वानों के अपने ही लेखों के यदि उद्धरण दिये जाएं तो उनसे साफ़ पता लगता है कि बहुत प्राचीन काल से आर्य लोग विज्ञान की दृष्टि से बड़े उन्नत रहे हैं। एक और आश्चर्य की बात यह है कि चरक सुश्रुतादि प्राचीन प्रायः सबके सब ग्रन्थों ने अपना अन्तिम आधार वेद को माना है। ऋग्वेद और अथर्ववेद में वस्तुतः ओषधि विषयक अनेक सूक्त आये हैं जिनके अन्दर अत्यन्त आश्चर्य जनक प्राकृतिक चिकित्साओं का वर्णन है। पृथिवी के सूर्य के चारों ओर घूमने, जल के दो गैसों से मिलकर बनने, कीटाणु और रोग-कृमियों के जलादि के अन्दर विद्यमान होने और अग्नि, सूर्य किरणादि द्वारा नष्ट होने, इतना ही नहीं विद्युत् द्वारा रथों के चलाये जाने इत्यादि के वर्णन स्पष्ट तौर पर वेदों में बार २ पाये जाते हैं। बहुत से वैज्ञानिक सिद्धान्तों का वेद में गुणद्योतक शब्दों द्वारा ही निर्देश कर दिया गया है। उदाहरणार्थ पृथिवी के लिये वेद 'गौ' शब्द का प्रयोग करता है जिसका अर्थ ही गति करने वाली है इससे उसका सूर्य के चारों ओर घूमने का सिद्धान्त साफ़ सूचित होता है। वेद में वरुण और मित्र शब्दों से क्रमशः Oxygen और Hydrogen का-

वर्णन है, जैसे—

मित्रं हुवे पूतदक्षं वरुणं च रिशादसम्।
धियं घृताचीं साधन्ता॥

इत्यादि मन्त्रों में गुण पूर्वक निर्देश करते हुए उनसे 'घृताची' अर्थात् जल का निर्माण करने वाली क्रिया उत्पन्न होती है ऐसा वैज्ञानिक सिद्धान्त साफ़ सूचित किया गया है।

येऽन्नेषु विविध्यन्ति पात्रेषु पिबतो जनान्।
तेषां सहस्रयोजने अव धन्वानि तन्मसि॥
यजु० १६। ६२॥

ये एतावन्तश्च भूयांसश्च दिशो रुद्रा वितस्थिरे।
यजु० १६। ६३॥

इत्यादि वेद मन्त्रों में स्पष्ट शब्दों में रुद्र, असुर, राक्षस वगैरह शब्दों के द्वारा रोगाणुओं का वर्णन और उनके नाश का उपाय बताया गया है। इसी तरह विद्युद्रथ का—

आ होता मन्द्रो विदथान्यस्थात्सत्यो यज्वा कवितमः सुमेधाः।
विद्युद्रथः सहसस्पुत्रो अग्निः शोचिष्केशः पृथिव्यां पाजो अश्रेत्॥
ऋग्वेद म० ३। १४। १॥

इत्यादि में जो वर्णन पाया जाता है वह भी वैदिक काल की वैज्ञानिक उन्नति का प्रबल प्रमाण है यदि वेदों को पाश्चात्यों के अनुसार मनुष्यों की रचना मान लिया जाए। अन्य भी अनेक वैज्ञानिक नियमों और सिद्धान्तों का वेद से उल्लेख किया जा सकता है। चन्द्रमा सूर्य से ज्योति ग्रहण करता है वह स्वयं प्रकाशित नहीं, इस वैज्ञानिक सिद्धान्त का—

अत्राह गोरमन्वत नाम त्वष्टुरपीच्यम्।
इत्था चन्द्रमसो गृहे दिवि सोमो अधिश्रितः।

इत्यादि वेदमन्त्रों में प्रतिपादन किया गया है। नौकाओं और विमानों का वेद में अनेक स्थानों पर साफ़ वर्णन पाया जाता है।

सुत्रामाणं पृथिवीं द्यामनेहसं सुशर्माणमदितिं सुप्रणीतिम्।
दैवीं नावं स्वरित्रामनागसमस्रवन्तीमा रुहेमा स्वस्तये॥

इत्यादि मन्त्रों में विस्तृत, छिद्ररहित अखण्डित, अच्छी प्रकार निर्मित, अच्छे अरित्रों अर्थात् चप्पुओं वाली, दिव्य (द्याम्) विद्युत्प्रकाश से प्रकाशित, नौका का स्पष्ट वर्णन करते हुए उस पर चढ़ने की अभिलाषा प्रकट की गई है।

समुद्रं गच्छ स्वाहा। अन्तरिक्षं गच्छ स्वाहा।
द्यावापृथिवी गच्छ स्वाहा। (यजु० ६।२१)

इत्यादि वेदमन्त्रों में नौका विमानादि के द्वारा भूलोक, अन्तरिक्ष और समुद्र में बेरोक टोक भ्रमण करने का आदेश किया गया है। व्यापारियों के लिये विशेषतः अथर्ववेद में—

ये पन्थानो बहवो देवयाना अन्तरा द्यावापृथिवी संचरन्ति।
ते मा जुषन्तां पयसा घृतेन यथा क्रीत्वा धनमाहराणि॥
(अथर्व० ३।१५।२)

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा द्युलोक, पृथिवी लोक के मध्य में देवों (ज्ञानियों, शूरों, व्यापारियों) द्वारा व्यवहृत मार्गों का उल्लेख करते हुए उनके अति भ्रमण से हमें ऐश्वर्य की प्राप्ति हो ऐसी प्रार्थना की गई है। ये सब मन्त्र वैदिक काल में, जिनकी अत्यन्त प्राचीनता में किसी को भी सन्देह नहीं हो सकता, नौका विमानादि की सत्ता को प्रमाणित कर रहे हैं। सृष्ट्युत्पत्ति का विषय इन सबसे अधिक प्राचीन ग्रन्थों में जिस उत्तमता के साथ और वैज्ञानिक सिद्धान्तों के अनुकूल रीति से वर्णित किया गया है। उसे देखकर आश्चर्य चकित हुए २ फ्रांस देशीय सुप्रसिद्ध विद्वान् म० जैकोलियट अपने Bible in India नामक ग्रन्थ में लिखते हैं।

"(Astonishing fact! The Hindu Revelation Veda) is of all revelations the only one whose

ideas are in perfect harmony with modern science which proclaims the slow and gradual formation of the world."

अर्थात् ईश्वरीय ज्ञान माने जाने वाले सब ग्रन्थों में से केवल वेद ही है जिसके सृष्टि उत्पत्ति आदि विषयक विचार वर्तमान वैज्ञानिक सिद्धान्तों के सर्वथा अनुकूल है क्योंकि यह सृष्टि की क्रमिक उत्पत्ति के सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है।

बस इस विषय के अधिक विस्तार में अब हम नहीं जाना चाहते। अध्यात्म शास्त्र (Metaphysics) और दर्शन-शास्त्र (Philosophy) के विषय में प्राचीन आर्यों की उन्नति पर बड़े से बड़े धुरन्धर पाश्चात्य विद्वान् भी चकित हो गये हैं। केवल दो तीन साक्षियों का निर्देश करना पर्याप्त होगा। जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक श्लीगल कहते हैं।

'Even the loftiest philosophy of the Europeans ....appears in comparison with the abundant light and vigour of oriental idealism like a feeble spark in the full flood of heavenly glory of the noonday sun-faltering and feeble and ever ready to be extinguished."

अर्थात् उच्च से उच्च पाश्चात्य दार्शनिक विद्या भी भारतीय दर्शन-शास्त्र के आगे वैसी ही है जैसा कि प्रदीप्त मध्याह्न के सूर्य के प्रकाश के आगे टिमटिमाता हुआ दीपक। प्रो० वीवर लिखते हैं कि—

"It is in this field of Philosophy that the Indian mind attained the highest pitch of its marvellous fertility." (Indian Literature P. 27)

अर्थात् दर्शन शास्त्र में भारतीय मस्तिष्क ने अपने आश्चर्यकारक विचार उत्पन्न करने में सर्वोच्च स्थिति प्राप्त करली है।

तथा प्रो० मैक्स मूलर लिखते हैं—"The Hindus were a people remarkably gifted for philosophical abstraction." (Ancient Sans. Literature P. 566).

अर्थात् भारतीय लोगों पर दार्शनिक विचारों के लिये भगवान् का विशेष अनुग्रह है।

इस प्रकार योरोपीयन विद्वान भारतीय दर्शन शास्त्र के गौरव को विनय से स्वीकार करते हैं। सर विलियम हन्टर ब्राह्मणों के दर्शन शास्त्र की प्रशंसा करते हुए स्पष्ट कहते हैं कि।

"Brahman Philosophy exhausted the possible solution of these difficulties (*i.e.* of mind, matter and soul, of the origin of evil, of the summum bonum of life, of the relation of the creator to the creature etc.) and most of other great problems which have since perplexed greeks, Romans, mediaeval schoolmen and modern men of science. (Indian Gazetteer P. 213)"

भावार्थ यह है कि मन, प्रकृति, आत्मा, जीवन का उद्देश्य, ईश्वर का सृष्टि से सम्बन्ध, पाप की उत्पत्ति इत्यादि विषयक कठिन समस्याओं की भारतीय दर्शन शास्त्रने ही सब से अधिक उत्तम रीति से व्याख्या की है। ये समस्याएं हैं जो कि यूनानियों, रोमवासियों मध्यकालीन तथा नवीन वैज्ञानिकों को सदा चक्कर में डालती रही हैं। उपनिषदों के विषय में जो अध्यात्म विद्या के प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं, जर्मनी के दार्शनिक शोपनहार ने लिखा था।

'In the whole world there is no study so beneficial and elevating as the Upnishad. It has been the solace of my life. It will be the solace of my death.

अर्थात्. सारे संसार में उपनिषत् के समान उन्नत करने वाली और लाभदायक कोई पुस्तक नहीं है। यही मेरे जीवन के अन्दर शान्ति-दायक रही है और यही मृत्यु के समय मुझे शान्ति देगी। प्रो० मैक्समूलर ने शोपनहार के इन वाक्यों का समर्थन करते हुए कहा है कि मैं ४२ साल के अपने अनुशीलन से इस सम्मति का सहर्ष निःसंकोच अनुमोदन करता हूं।

इतने उद्धारणों को देने का यह तात्पर्य नहीं है. कि हम पाश्चात्यों के लेखों को 'बाबावाक्यं प्रमाणम्' के समान मानते हैं और जब तक उनके नाम की छाप हमारे ग्रन्थों की प्रामाणिकता पर न लग जाए तब तक उनका गौरव नहीं स्वीकार करते। उनको उद्धृत करने का केवल इतना ही मतलब है कि पक्षपात से प्रायः काम लेते हुए भी पाश्चात्य विद्वान् हमारे पूर्वज आर्यों की दर्शनशास्त्र, अध्यात्म विद्या, ज्योतिष, गणित इत्यादि में की गई आश्चर्यजनक उन्नति को स्वीकार करते हैं। दर्शनशास्त्र तथा उपनिषदादि एक स्वर से वेद को ही अन्तिम प्रामाणिक ग्रन्थ और अपना आधार भूत स्वीकार करते हैं। ऐसी अवस्था में वेद विषयक यूरोपियन विद्वानों की कल्पनाएं जिनके आधार पर वे विकासवाद का समर्थन करना चाहते हैं सर्वथा अशुद्ध सिद्ध होती हैं। वर्तमान सभ्यता की प्रस्तुत समालोचना भी धुरन्धर पाश्चात्य विद्वानों के ही लेखों से हम पुस्तक के छठे अध्याय में कर चुके हैं जिससे स्पष्ट पता लगता है कि यह पाश्चात्य सभ्यता अनेक अंशों में बड़ी ही दोषपूर्ण और हानिकारक है तथा इसके अनुकरण करने से हमारा कल्याण नहीं हो सकता। इसके विपरीत प्राचीन

आर्य सभ्यता को हम सब ही विषयों में उत्तम आदर्श रखती हुई पाते हैं इस लिये हम इस परिणाम पर पहुंचे बिना नहीं रह सकते कि पाश्चात्य समाजशास्त्रियों द्वारा स्वीकृत सामाजिक विकासवाद बहुत कुछ निराधार है।

इस आलोचना को समाप्त करने से पूर्व हमें यह दिखाना है कि वैदिक राष्ट्रीयता के भाव और वर्तमान पाश्चात्य देशों तथा उन्हीं के अनुकरण में जापान के प्रचलित जातीयतावाद (Nationalism) में क्या अन्तर है। वेद के अन्दर देशभक्ति के भाव जिस शुद्धरूप में पाए जाते हैं उनका दिग्दर्शन इसी अध्याय में कराया जाचुका है। वेद हमारे सामने

मित्रस्याहं चक्षुषा सर्वाणि भूतानि समीक्षे।
मित्रस्य चक्षुषा समीक्षामहे।

इत्यादि मन्त्रों के द्वारा सर्वभूत हितवाद (Cosmopolitanism) का आदर्श रखता है किन्तु साथ ही जैसे एक मकान पर चढ़ने के लिये सीढ़ियों की आवश्यकता है वैसे ही सर्वभूतहितवाद रूपी मकान या अन्तिम मंजिल पर चढ़ने के लिये नगरप्रेम, देशप्रेम, जातिप्रेमादि आवश्यक सीढ़ियां हैं जिनको तुच्छ समझना अनुचित है। इन सीढ़ियों के द्वारा मनुष्य जब अपनी दृष्टि को विस्तृत करता जाता है तभी अन्त में सर्वभूतहितवाद के आदर्श तक पहुंचता है। इस लिये वेद में सर्वभूतहितवाद के साथ २ ही देशभक्ति के भाव पाये जाते हैं। उसमें इन दोनों का विरोध बिल्कुल ही नहीं स्वीकार किया गया। मकान पर पहुंच कर सीढ़ियों को गिरा देना अथवा उनको निरर्थक बतलाना जैसे मूर्खता है वैसे ही सर्वभूतहितवाद रूपी ऊंचे मकान पर पहुंचने पर भी अपनी मातृ भूमि के हित का विशेष विचार रखना किसी रूप में भी निन्दनीय नहीं है। श्रीयुत अरविन्दघोष के 'धर्म और जातीयता' नामक निबन्ध

के अनुसार यदि देशभक्ति और जातीयता में भेद करना हो तो यों कहा जा सकता है कि अपने देश के प्रति विशेष सन्मान और श्रद्धा युक्त भाव रखते हुए उसके हित का ख़ास तौर पर ख़्याल रखना, पर साथ ही अन्य देशों या जातियों के प्रति किसी तरह की घृणा न दिखाना, यह देशभक्ति (Patriotism) है, जिसे सात्त्विक भाव कह सकते हैं, पर अपनी ही जाति और देश के प्रति ममता और दूसरी जातियों और देशों के प्रति न केवल प्रेम का अभाव किन्तु उनके प्रति घृणामिश्रित भाव रखते हुए उन्हें नुकसान तक पहुंचाने में ज़रा संकोच न करना यदि वैसा करने से अपनी जाति का कुछ स्वार्थ सिद्ध होता हो तो यह शुद्ध देश-भक्ति नहीं किन्तु जातीयता या Nationalism का भाव है जिस की गणना राजसिक भावों के अन्दर ही हो सकती है, सात्त्विकों में नहीं। पाश्चात्य देशों और जापान के अन्दर इन दिनों शुद्ध देशभक्ति का भाव विद्यमान नहीं है, बल्कि यही घृणामिश्रित जातीयता का भाव वहां दिन प्रति दिन प्रधान होता जा रहा है। इसी कारण से इंगलेन्ड अमेरिका और जापान में जातीयता के विरुद्ध व्याख्यान देते हुए कवि शिरोमणि डा० रवीन्द्र नाथ टागोर ने ठीक कहा है।

"We have felt its iron grip at the root of our life, and for the sake of humanity, we must stand up and give warning to all that this nationalism is a crual epidemic of evil that is sweeping over the human world of the present age and eating into its moral vitality." (Nationalism in the West P. 16)

अर्थात् इस जातीयता के जीवन पर प्रभाव का अनुभव करते हुए अब हमें खड़े हो जाना चाहिये और संसार को चेतावनी दे देनी चाहिये

कि यह भाव जो वर्तमान समय में सारी दुनियां में फैलता जारहा है एक ऐसी बीमारी के सदृश है जो जगत् की नैतिक शक्ति को नष्ट करने वाली है। यह जातीयता का भाव जिसके विषय में उपर्युक्त कठोर शब्दों का डा० रवीन्द्र नाथ ने प्रयोग किया है क्या है और वह क्यों निन्दनीय है इस विषय में उसी व्याख्यान में उन्हों ने कहा है।

"It makes one almost openly unashamed of inhumanity. Clever lies become matters of self-congratulations. Solemn pledges become a force—laughable for their very solemnity. Its (nation's) one wish is to trade on the feebleness of the rest of the world."

(Nationalism by Dr. Tagore, P. 29-30)

अर्थात् दूसरी जातियों और देशों को हानि पहुंचा कर अपनी ही जाति को उन्नत करने का यह भाव मनुष्यों को अमानवीय कार्य तक करने में लज्जित नहीं होने देता। चालाकी से भरे हुए झूठ, प्रसन्नता और बधाई के कारण बन जाते हैं। गम्भीरता से की हुई प्रतिज्ञाएं केवल एक ऐसा तमाशा बन जाती हैं जिन की गम्भीरता पर ही हँसी आती है। एक मात्र जाति का उद्देश्य शेष जगत् की निर्बलता से लाभ उठाना रह जाता है।

यह है सीधे शब्दों में यूरोप और अमेरिका का राष्ट्रीयतावाद जिस पर वे घमण्ड करते हैं। आर्यों की प्राचीन सभ्यता देशभक्ति के भाव को उत्पन्न करती है पर इस संसार में अशान्ति को बढ़ाने वाले घातक "जातीयता" के भाव को नहीं। अतः इस विषय में वर्तमान सभ्य जगत् से यह उन्नत ही है, उस से हीन नहीं। यही बात तुलना करने पर इस अध्याय में वर्णित अन्य सब विषयों में भी बिना पक्षपात के कही जासकती है पर विस्तार के भय से वैसा करना इस समय आवश्यक मालूम

नहीं होता। इतनी आलोचना से परिणाम साफ़ निकलता है कि प्रायः पाश्चात्य समाज शास्त्रियों ने जिस सामाजिक विकासवाद को स्वीकार किया है यह कम से कम प्राचीन आर्यसभ्यता और संस्कृत वा वैदिक साहित्य पर दृष्टि डालते हुए बड़े ही तुच्छ आधारवाला प्रतीत होता है। यूरोप के हर्बर्ट स्पेन्सर इत्यादि समाज-शास्त्री संस्कृत साहित्य और आर्य सभ्यता से सर्वथा अनभिज्ञ थे अतः उन्होंने अनेक भ्रान्त कल्पनाएं प्राचीन आर्यों के विषय में औरों से सुन सुना कर ऐसी लिख डाली हैं जिन से विकासवाद का समर्थन हो सके।

उपसंहार

भारतीय समाज शास्त्र के विषय में इतना लेख लिखने के पश्चात् अब हम उपसंहार के तौर पर कुछ शब्द और लिख कर इसे समाप्त करते हैं। इस निबन्ध का ८ अध्यायों में विभाग किया गया है जिनका संक्षेप यों दिया जा सकता है।

(१) प्रथम अध्याय में समाज शास्त्र वा Socialogy के भिन्न२ लक्षणों का उल्लेख कर के व्यक्ति और समाज का सम्बन्ध इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये गये हैं।

(२) द्वितीय अध्याय में भारतीय समाज शास्त्र की आधार शिला रूप वर्णाश्रम व्यवस्था पर धार्मिक और सामाजिक दृष्टि से विचार किया गया है।

(३) तृतीय अध्याय में वर्णव्यवस्था पर ऐतिहासिक दृष्टि से विचार करते हुए यह दिखाया गया है कि जब तक गुणकर्मानुसार वर्णव्यवस्था हमारे देश में प्रचलित थी तभी तक हमारा देश तथा समाज अत्यन्त उन्नत अवस्था में थे। जब उस वर्णव्यवस्था का स्थान जातिभेदादि ने ले लिया तब देश के अधःपात का सूत्र पात हुआ।

(४) चतुर्थ अध्याय में वर्णव्यवस्था पर तुलनात्मक विचार करते हुए बताया गया है कि प्राचीन समय न केवल भारत वर्ष में बल्कि मिश्र यूनान इत्यादि में भी वर्णों की व्यवस्था कुछ परिवर्तित रूप में प्रचलित थी और साथ ही वर्तमान साम्यवाद (socialism) के साथ इसकी समानताओं और विभिन्नताओं का निर्देश करते हुए यहां सिद्ध किया गया है कि भारत और यूरोप की वर्तमान कठिन समस्याओं का हल प्राचीन वर्ण-व्यवस्था के ही तत्त्व को पुनरुज्जीवित करने से हो सकता है जिसके अन्दर सार्वजनिक भ्रातृत्व, स्वतन्त्रता और समानता के उच्च सिद्धान्तों का समावेश है।

(५) पञ्चम अध्याय में दिखाया गया है कि वर्तमान भारतीय समाज में प्रचलित जाति-भेद, अस्पृश्यता, बालविवाह, पात्रापात्र विवेक, हीन दान, योग्य स्त्री-शिक्षा का अभाव, प्रथाओं की दासता इत्यादि बुराइयों का संक्षेप से दिग्दर्शन कराकर यथार्थ शास्त्रीय तत्त्वों के प्रचार और स्वतन्त्र विचार शक्ति के उत्तेजित करने के द्वारा इन बुराइयों को दूर किया जा सकता है।

(६) छठे अध्याय में भारतीय सभ्यता और यूरोपीय सभ्यता के मुख्य २ तत्त्वों का निर्देश करते हुए उनकी विभिन्नताओं का वर्णन किया गया है और साथ ही भोग प्रधान केवल प्राकृतिक सभ्यता हानिकारक है इस विषय में कई प्रसिद्ध पाश्चात्य विचारकों की सम्मतियों का उल्लेख किया गया है।

(७) सातवें अध्याय में भारतीय समाज में स्त्रियों की स्थिति पर शास्त्रीय, ऐतिहासिक दृष्टियों से पर्याप्त विस्तृत विचार करते हुए वर्तमान स्थिति का उल्लेख किया गया है और साथ ही पाश्चात्य देशों में स्त्रियों की स्थिति पर आवश्यक प्रकाश डालते हुए उचित सुधारों का निर्देश किया गया है।

(८) आठवें अध्याय में प्रायः पाश्चात्य समाज शास्त्रियों द्वारा स्वीकृत सामाजिक विकासवाद के स्वरूप का निर्देश और उस की संक्षेप आलोचना कर के सिद्ध करने का यत्न किया गया है कि इस के समर्थन में पर्याप्त पुष्ट प्रमाण नहीं पाये जाते बल्कि सबसे प्राचीन वैदिक साहित्य पढ़ने से इस वाद का स्पष्ट खण्डन हो जाता है। यह इस ग्रन्थ में दिये गये विषयों का संक्षेप है ! समाज-शास्त्र यह अत्यन्त ही विस्तृत विषय है क्यों कि इसके अन्दर अनेक विषयों का अन्तर्भाव हो जाता है पर भारतीय दृष्टि से इस पर विचार करने के लिये जितना कुछ आवश्यक था उतने का ही इस निबन्ध के अन्दर उल्लेख करना उचित समझा गया है। व्यर्थ यूरोपीय समाज-शास्त्रियों के अन्य विषयक मतों का उल्लेख अथवा उन पर टीका टिप्पणी करना आवश्यक नहीं समझा गया। मुझे निश्चय है कि उक्त दृष्टि से भारतीय समाज शास्त्र का अध्ययन कर के हम सभ्यता इत्यादि विषयक निश्चित विचार बना कर अपने देश और जाति के कल्याण के लिये अधिक योग्यता से कार्य करने में समर्थ हो सकते हैं। इस विषय में जितना भी तुलनात्मक अनुशीलन किया जायगा उतना ही अधिक लाभ पहुंचेगा।